काशक —
ाद्या मन्दिर
त्ता शाहजी, चावड़ी बाजार, दिल्ली

मूल्य
तीन रुपये

उसे न अब तुम और सँभालो।
उसके लिये राज्य-शासन में,
परम्परा की रूढ़ि न टालो।
जब कि मनाने आया तुमको
बन्धु भरत कुल का उजियारा।
अवध-राज्य-कल्याण विचारो,
कहता है कर्त्तव्य तुम्हारा॥

शासन दंड हाथ में लेकर,
भारत एक बना सकते तुम।
है इतना सामर्थ्य कि जग में,
आर्य्य-सभ्यता छा सकते तुम।
फिर क्यों चौदह वर्षों तक तुम,
वन वन भटको बने उदासी।
तुम पालो कर्तव्य, सुखी हों
तुमको पाकर अवध-निवासी।
अवध-निवासी सुख के इच्छुक,
केवल उत्सुक ही रह पाये।
लखा उन्होंने; रामचन्द्र थे
प्रणत भाव से नयन झुकाये।
किन्तु प्रणति के साथ-साथ ही,
स्वीकृति भी थी या कि नहीं थी।
इसकी किसी प्रकार सूचना,
उस आनन पर नहीं कहीं थी॥

गुरुवर ने देखा विदेह को,
बोले तब मिथिला के स्वामी।
"नई बात कोई न कहेगा,
मुनि-मण्डल का यह अनुगामी।
प्रथम मुनीश्वर ने समझाई,
सुख के पथ की दुनियादारी।

# सूची


१. काव्य-दर्शन : एक समीक्षा—शचीरानी गुर्टू १–६२

२. कृष्ण-सन्देश—(प्रिय-प्रवास) अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ३

३. भरत का अनुताप—(साकेत) मैथिलीशरण गुप्त २१

४. पादुका-अर्पण—(साकेत-संत) डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र ४३

५. बालि-वध—(रामचरित चिंतामणि) रामचरित उपाध्याय ६५

६. मंगल-यात्रा—(वैदेही वनवास) 'हरिऔध' ८७

७. रहस्य—(कामायनी) जयशंकर प्रसाद ९१

८. संयोग—(सिद्धार्थ) अनूप शर्मा 'अनूप' १०५

९. पृथ्वीराज—(आर्यावर्त) मोहनलाल महतो 'वियोगी' ११७

१०. युद्ध का अन्त—(हल्दीघाटी) श्यामनारायण पांडेय १३१

११. प्रेम की विजय—(नूरजहाँ) गुरुभक्तसिंह १४५

१२. भीष्म और युधिष्ठिर—(कुरुक्षेत्र) रामधारीसिंह 'दिनकर' १५७

१३. मानव का इतिहास—(मेधावी) राङ्गेय राघव १६९

१४. समादान—(कुणाल) सोहनलाल द्विवेदी १८३

परिषद् अति आश्चर्य-चकित थी,
आशा क्या थी, निर्णय कैसा।
भरत भरत ही थे महिमा में,
निर्णय था ऊँचा वह ऐसा।
भाव-विभोर जनों की वाणी,
यदपि न जिह्वा तक थी आई।
पर निर्णय ने स्वतः आप ही,
सब की स्वेच्छा स्वीकृति पाई॥

बोले राम, "धर्म-संकट से,
आज भरत ने जगत उबारा।
सबका दुख अपने में लेकर
सबको सुख का दिया सहारा।
वह अनुराग त्याग-मय अनुपम,
बड़े भाग्य, यदि कोई पाये।
देव मनुज की महिमा समझें,
सुर नर के दर्शन कर जाये॥

आँखों की बूँदों में रहती,
शांति कांति वह उर की छाई।
मोती के पानी की कीमत,
नश्वर फूलों ने कब पाई।
जग की स्मिति उस ही आँसू की
नींवों पर निज महल बनाती।
जिसकी रुचिर आर्द्रता, जग के
ताप-हरण को आगे आती॥

आज भरत खोकर भी जीते,
और जीत कर भी मैं हारा।
मेरे ही कंधों पर पटका,
उनने बोझ राज्य का सारा।
केवल चौदह वर्षों तक वे,
मेरे प्रतिनिधि मात्र रहेंगे

किन्तु विनय है मुझे छोड़ियो,
मेरे भाग्य और बाहों पर।
अवध कि मिथिला दूतों तक की,
गति न रहे मेरी राहों पर॥
जिन्हें मिलाना चाह रहा हूँ,
मुझको उनमें मिल जाने दो।
मेरे सुख के दुख के साथी,
बन कर उनको खिल जाने दो।
निर्भय मैं वन में विचरूँगा,
सिर पर मुनिगण की छाया है।
और मनुज-जीवन के पथ पर,
सर्वोपरि विभु की माया है॥
दक्षिण तो मैं देखूँगा ही,
पर उत्तर पर आँच न आवे।
करो व्यवस्था भरत! कि मणि
की जगह विदेशी कांच न आवे।"
कहा जनक ने "पूर्व दिशा में,
स्थिर है अपनी आर्य - पताका।"
कैकेयी ने कहला भेजा,
"मैं साधूँगी पश्चिम नाका॥
बोले राम कि "ऐसा है तो,
साधु भरत का भारत प्यारा।
होगा एक अखंडित अनुपम,
अग जग की आंखों का तारा।
काल - चक्र की कई आँधियाँ,
उस पर आयेंगी जायेंगी।
उसकी जीवन-ज्योति, किसी भी
भांति न किन्तु बुझा पायेंगी॥
भारत जब तक जग में होगा,
भारतीयता तब तक होगी।

# काव्य-दर्शन : एक समीक्षा

किसी भी काव्य-कृति के सौष्ठव को हम इस कसौटी पर नहीं परखते कि उसने हमारी भावनाओं को कहाँ तक उद्बुद्ध किया है, प्रत्युत् उसकी आत्मा में झाँक कर जीवन के मूलभूत सिद्धान्त एवं शाश्वत सत्य को हृद्गत करके ही हम उसके महत्त्व को आँक पाते हैं। सत्काव्य का आदर्श सामान्य भाव-भूमि से सदैव ऊँचा उठा रहना चाहिए। न केवल साहित्य एवं कला के उदात्त-तत्त्व कवि की सूक्ष्म राग-चेतना से अनुप्राणित होकर उसके अनुभूत यथार्थ को व्यक्त करते हैं, वरन जीवन और जगत् के सूक्ष्म प्रभाव, जिन्हें कि वह आत्मसात् करके वाणी द्वारा दूसरों तक पहुँचाता है, मानवीय-मनोवेगों को विलोड़ित करते हुए हमारी कल्पना को भी चमत्कृत और अनुरंजित करते हैं।

कला अमर है और मानवीय मनोवेगों को तरंगित करने वाली यह रहस्यमयी शक्ति भी अमर है। सृष्टि के जिस दृश्यमान् मूर्त्त की ओर साधारण लोगों की दृष्टि जाकर लौट आती है, वही कवि के कल्पना-जगत् को आत्म-प्रकाशोन्मुख करती हुई अखण्ड, चिन्मय आनन्दानुभूति से भर देती है। चूँकि कवि की चेतना रागबोधात्मक है, उसकी अनुभूतियों की परिधि भी इतनी व्यापक हो जाती है कि वह दृश्य-जगत् की अर्थवती छवियों में अपनी राग-विराग की वृत्तियों को तद्रूप करके मद-विह्वल सा जीवनमय उन्मद राग में डूबता-उतराता रहता है। अन्तरिक्ष-पथ पर बिखरे अगणित तारे जो सामान्य

स्वलाभ तज लोक - लाभ - साधन ।
विपत्ति में भी प्रफुल्ल रहना ॥
परार्थ करना न स्वार्थ - चिन्ता ।
स्वधर्म - रक्षार्थ क्लेश सहना ॥

मनुष्यता है करणीय कृत्य है ।
अपूर्व - नैतिकता का विलास है ॥
प्रयास है भौतिकता विनाश का ।
नरत्व - उन्मेष - क्रिया - विकास है ॥

विचार पतिदेव का यही है ।
उन्हें यही नीति है रिझाती ॥
अशान्त भव में यही रही है ।
सदा शान्ति का स्रोत बहाती ॥

उसे भला भूल क्यों सकूँगी ।
यही ध्येय आजन्म रहा है ॥
परम - धन्य है वह पुनीत थल ।
जहाँ सुरसरी सलिल बहा है ।

विलोक आँखें मयंक - मुख को ।
रहीं सुधा - पान नित्य करती ॥
बनी चकोरी अतृप्त रह कर ।
रहीं प्रचुर - चाव साथ भरती ॥

किसी दिवस यदि देख पातीं ।
अपार आकुल बनी दिखातीं ॥
विलोकतीं पंथ उत्सुका हो ।
तालक तालक काल भी बितातीं ॥

[illegible] बहा वारि जो विरह में ।
[illegible] नयन वारिधार में ॥
[illegible] बहु व्यथित हुए, जो ।
हृदय विकम्पित रहे आह में ॥

दृष्टि को केवल चिनगारियों से ज्ञात होते हैं, रंग-बिरंगे पुष्प जो असमय में ही झड़कर मुरझा जाते हैं और वातायन-पथ से उठनेवाली सौरभश्लथ समीर की हल्की-हल्की थपकियाँ जो शून्य में टकराकर विलय हो जाती हैं, कवि के अन्तर्देश में न जाने कितनी मदभरी कोमल कान्त भावनाओं को जगाया करती हैं। कवि की यह उन्मादपूर्ण मानसिक स्थिति ही वास्तविक प्राशस्त्य अवस्था है, क्योंकि इसी के द्वारा वह वस्तुगत सत्य तक पैठ पाता है। बाह्य-परिवेश को अपने अनुभव का विषय बनाकर वह सौन्दर्यासौन्दर्य की विवृति करता है और आत्मा की मनन-शक्ति द्वारा क्षुद्र संकुचित सम्बन्धों से ऊपर उठकर श्रेय की प्रेयरूपा शक्ति को उद्‌बुद्ध करता है। शेक्सपीयर ने एक स्थल पर लिखा है:—

"जिस प्रकार कवि की कल्पना अज्ञात वस्तुओं का रूप निर्धारित करती है, उसी प्रकार उसकी लेखनी वायवी, तुच्छ पदार्थों को मूर्त्त करती हुई उनको संस्कार और स्थायिता प्रदान करती है।"

( As imagination bodies forth,
The form of things unknown, the poets' pen,
Turns them to shapes, and gives to airy nothings.
A local hebitation and a name.)

कवि की दृष्टि इतनी संवेदनशील और व्यापक होती है कि जीवन के सूक्ष्मतम भावों से सम्पृक्त होकर अभिमत आदर्शों की उपलब्धि करती है और पुनः अपने इन्हीं मूर्त्त आदर्शों को, जो उसकी कल्पना से सजीव हो उठे हैं, वह उन्हें अणु-अणु में स्पन्दित होते देखता है। विश्व में जो कुछ अन्तर्हित सत्य है उसे वह अपने ज्ञान-स्फुलिंगों से उद्भासित करता हुआ अपनी निस्सीम भाव-परिधि में प्रतिष्ठित करना चाहता है। विशेष वस्तुओं का निरीक्षण करते हुए जो स्मृतियाँ उसके अन्तर में संचित हो जाती हैं, वे ही रस-सिक्त होकर उसकी लेखनी की नोक पर थिरकने लगती हैं और तब, आत्म-विस्मृति के क्षणों में, उसे यह समझ नहीं पड़ता कि यह सब कैसे हो जाता है। [illegible] ने लिखा है:

"जब कोई मनुष्य किसी बात को समझाने के लिए कविता लिखता [illegible] कि मनुष्य के हृदय को जो अनुभव होता है

ऊर्ध्व देश उस नील तमस में
स्तब्ध हो रही अचल हिमानी ;
पथ थक कर है लीन, चतुर्दिक
देख रहा वह गिरि अभिमानी।
दोनों पथिक चले हैं कब से
ऊँचे ऊँचे चढ़ते चढ़ते;
श्रद्धा आगे मनु पीछे थे
साहस उत्साही से बढ़ते।
पवन वेग प्रतिकूल उधर था
कहता, 'फिर जा अरे बटोही !
किधर चला तू मुझे भेद कर ?
प्राणों के प्रति क्यों निर्मोही ?'
छूने को अम्बर मचली-सी
बढ़ी जा रही सतत ऊँचाई;
विक्षत उसके अंग, प्रकट थे
भीषण खड्ड भयकारी खाँई।
रविकर हिम खंडों पर पड़ कर
हिमकर कितने नये बनाता;

वही काव्य-रूप में बाहर आने का प्रयत्न करता है। यदि ऐसी कविता को सुनकर कभी कोई यह कहता है कि मैं तो इसमें कुछ नहीं समझता तो उस समय मेरी मति कुण्ठित हो जाती है। पुष्प को सूँघकर यदि कोई कहने लगे कि मेरी कुछ समझ में नहीं आता तो उसका यही उत्तर हो सकता है कि इसमें समझने जैसा है भी क्या! यह तो केवल 'आभास मात्र' है।"

कवि के लिए सौन्दर्य विश्व का अन्तरतम संगीत है, उसमें उसकी सूक्ष्म चेतना अन्तर्निहित होती है। विश्व की विराट् रंगस्थली में जब पार्थिव वस्तुएँ नित्य बनती और बिगड़ती हैं तो कवि को शाश्वत-सौन्दर्य और सत्यता की प्रकाश-धारा दिग्दिगन्त में लहलहाती दीख पड़ती है। उसकी सौन्दर्य की बोध-चेतना इतनी सूक्ष्म है कि वह अपने अभीप्सित को तीव्रता से स्पर्श करती हुई सत्य की समग्रता में खो जाना चाहती है। एक ओर उसकी महती आकांक्षा अन्तर्निष्ठ सौन्दर्य की प्रेरणा का उत्स है तो दूसरी ओर विश्वात्मा की असीम व्याप्ति उसकी आँखों में आलोक के स्निग्ध कण बनकर ढुलकती रहती है।

कहना न होगा कि यह सौन्दर्य ही काव्य की वह शाश्वत शक्ति है जो सत्यं, शिवं की चरम परिणति है। कवि की सौन्दर्य-भावना सत्य की जिज्ञासा बनकर जब भीतर के अरूप सौन्दर्य को यत्र-तत्र छलकाती है तो काव्य की धारा फूट पड़ती है और काव्य का यह शिवत्व ही सत्य और सुन्दर बन जाता है। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार यह सौन्दर्य दो प्रकार का होता है (१) भाव-सौन्दर्य (२) अभिव्यक्ति-सौन्दर्य। इन्हें ही अपने यहाँ अनुभूति-पक्ष और अभिव्यक्ति-पक्ष अथवा भाव-पक्ष और कला-पक्ष कहा गया है।

प्रमुख रूप से कविता में कवि की अनुभूति की अभिव्यक्ति रहती है। वह जो कुछ देखता या समझता है उसे ही आत्मसात् करके कविता द्वारा व्यक्त करता है। किन्तु जैसे शरीर के बिना आत्मा का अस्तित्व सम्भव नहीं है, उसी प्रकार अभिव्यक्ति के सौन्दर्य के बिना केवल भाव का प्रकाशन ही कविता नहीं है। जब तक कवि अपने मनोभावों को व्यक्त करनेवाली विविध कलाओं से अवगत नहीं होता तबतक कविता को परिपूर्ण और परिपक्व सत्ता सम्पन्न हुई दृष्टिगत नहीं होती। भारतीय आचार्यों ने भावों के स्वरूप-निरूपण और उनकी अनेक विधाओं

वह विश्वास भरी स्मिति निश्छल
श्रद्धा मुख पर झलक उठी थी;
सेवा कर-पल्लव में उसके
कुछ करने को ललक उठी थी।
दे अवलंब, विकल साथी को
कामायनी मधुर स्वर बोली;
"हम बढ़ दूर निकल आये अब
करने का अवसर न ठिठोली।
दिशा विकम्पित, पल असीम है
यह अनन्त-सा कुछ ऊपर है;
अनुभव करते हो, बोलो क्या
पदतल में सचमुच भूधर है?
निराधार हैं, किन्तु ठहरना
हम दोनों को आज यहीं है;
नियति खेल देखूँ न, सुनो अब
इसका अन्य उपाय नहीं है।
झाँई लगती जो, वह तुमको
ऊपर उठने को है कहती;
इस प्रतिकूल पवन धक्के को
झोंक दूसरी ही आ सहती।
श्रान्त पक्ष, कर नेत्र बन्द बस
विहग युगल से आज हम रहें;
शून्य, पवन बन पंख हमारे
हमको दें आधार, जम रहें।
घबराओ मत! यह समतल है
देखो तो, हम कहाँ आ गये"
मनु ने देखा आँख खोल कर
जैसे कुछ कुछ त्राण पा गये।
ऊष्मा का अभिनव अनुभव था
ग्रह, तारा, नक्षत्र अस्त थे;

की मार्मिक विवेचना की है, किन्तु भावों के अंतस् में प्रवाहित होनेवाले रस की निष्पत्ति तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि उन्हें अनूठे ढंग से व्यक्त न किया जाय।

पाश्चात्य रीति से प्रतिपादित काव्य के चार तत्व (१) भावतत्व (रागात्मक तत्व), (२) कल्पनातत्व, (३) बुद्धितत्व और (४) शैली-तत्व अनुभूति और अभिव्यक्ति इन दोनों पत्तों के अन्तर्गत आ जाते हैं। काव्य का प्रमुख गुण रागात्मक तत्व भावनाओं को स्फुरित करता है, कल्पना-तत्व सजीव तूलिका से अमूर्त्त को मूर्त्त करता हुआ नानाविध चित्र हमारे नेत्रों के सम्मुख लाकर खड़ा कर देता है, बुद्धितत्व हमारे तरंगित मनोवेगों, कल्पना-प्राचुर्य और विषय-प्रतिपादन पद्धति में सामंजस्य स्थापित करता है अर्थात् भाव-पत्त और कला-पत्त दोनों को औचित्य की सीमा से आगे बढ़ने नहीं देता। शैली-तत्व हमारे आत्म-प्रकाशन का साधन है। वह हमारे आत्मभूत तत्व को बहिर्मुख करता हुआ उसे सुन्दर और सुचारु बना देता है। कुशल कवि अपनी अन्तर्नुभूत सूक्ष्म भावनाओं को सुन्दर भाषा में प्रस्तुत करता है। वह इस कला में जितना ही पारंगत होता है उतना ही सफल समझा जाता है।

प्राय: प्रत्येक काव्य-कृति में दो तत्व दीख पड़ते हैं एक 'अर्थ' और दूसरा 'शब्द'। शब्द और अर्थ काव्य का शरीर है और रस उसकी आत्मा। हमारे आचार्यों ने भिन्न भिन्न पद्धति से शब्द, अर्थ और रस की व्याख्या की है। उत्कृष्ट काव्य में सभी तत्वों का समावेश अनिवार्य है। जिस प्रकार अनन्त काल से मनुष्य में अपने विचारों को व्यक्त करने की प्रबल आकांक्षा है, उसी प्रकार उसमें सौन्दर्य-भावना निहित होने के कारण अभिव्यक्ति का साधन अपनी भाषा को सजाने-सँवारने की सहज वृत्ति भी होती है। अलंकार (शब्दालंकार, अर्थालंकार, उभयालङ्कार), शब्दों के गुण (माधुर्य, ओज, प्रसाद), ध्वनि (अभिधा, लक्षणा, व्यंजना), नाद और स्वर आदि भाषा-शास्त्रियों ने अनेक प्रकार से भाषा के गुण-दोषों का वर्गीकरण किया है। आत्मा की केन्द्रानुगामिनी शक्ति, सृजन की भावना से अनुप्राणित होकर, जब सुन्दर और सुचारु रूप में वाणी द्वारा प्रस्फुटित होती है तो उत्कृष्ट काव्य-कृति बन जाती है।

यह संगीतात्मक ध्वनि इनकी
कोमल अँगड़ाई है लेती;
मादकता की लहर उठा कर
अपना अम्बर तर कर देती।
आलिंगन-सी मधुर प्रेरणा
छू लेती, फिर सिहरन बनती;
नव अलम्बुषा की व्रीड़ा-सी
खुल जाती है, फिर जा मुँदती।
यह जीवन की मध्य भूमि है
रस धारा से सिंचित होती;
मधुर लालसा की लहरों से
यह प्रवाहिका स्पंदित होती।
जिसके तट पर विद्युत कण से
मनोहारिणी आकृति वाले;
छायामय सुषमा में विह्वल
विचर रहे सुन्दर मतवाले।
सुमन संकुलित भूमि रंध्र से
मधुर गंध उठती रस भीनी;
वाष्प अदृश्य फुहारे इसमें
छूट रहे, रस बूँदे झीनीं।
घूम रही है यहाँ चतुर्दिक्
चल - चित्रों - सी संसृति-छाया;
जिस आलोक-विंदु को घेरे
वह बैठी मुसक्याती माया।
भाव-चक्र यह चला रही है
इच्छा की रथ-नाभि घूमती;
नव रस भरीं अराएँ अविरल
चक्रवाल को चकित चूमतीं।
यहाँ मनोमय विश्व कर रहा
रागारुण चेतन उपासना;

## काव्य के भेद

प्रमुख रूप से काव्य के दो भेद किए गए हैं (१) भाव-प्रधान और(२)विषय-प्रधान। भाव-प्रधान कविता में कवि का आत्माभिव्यंजक रूप अर्थात् उसकी अपनी बात की प्रधानता होती है। इसके अन्तर्गत गीतिकाव्य और स्फुट कविताएँ आदि आती हैं। विषय-प्रधान कविता में अपने से परे देश और समाज की बातें, विश्व भर के अशेष मानवों के हृदयावेगों का विशदतम रूप तथा जीवन की व्यापक संचालक शक्तियों एवं आशा-आकांक्षाओं की सफल अभिव्यक्ति होती है। "उसकी रचना उस बड़े वृक्ष की भाँति होती है जो देश के भूतल रूपी जठर से उत्पन्न होकर उस देश को आश्रयरूपी छाया देता हुआ खड़ा रहता है।" विषय-प्रधान काव्य के अन्तर्गत महाकाव्य, खण्डकाव्य, जीवन-वृत्त, पौराणिक-गाथा और ऐतिहासिक आख्यान आदि आते हैं। इसमें कवि केवल अपने तक ही सीमित न रहकर दूरतक अपनी दृष्टि फैलाता है। वह किसी देश-विशेष अथवा जाति-विशेष की भावनाओं में न बँधकर विपुल मानव-जीवन को अतीत, वर्तमान और भविष्यत को अपने भीतर समेटे रहता है। जितने भी विश्व के बड़े-बड़े महाकाव्य अब तक लिखे गए हैं उनमें कवि का व्यक्तित्व तिरोहित होकर समग्र मानवता का रूप मुखर हो गया है।

## महाकाव्य की व्याख्या

यह तो हम ऊपर ही लिख आए हैं कि महाकाव्य की परिधि अत्यन्त विस्तृत है। उसकी कथा किसी व्यक्ति-विशेष की नहीं, वरन् व्यक्तित्व की होती है। उसमें किसी एक मानव का नहीं, वरन् मानवता का इतिहास, मानव-जीवन की व्याख्या और मानवीय-मनोवेगों का स्वच्छन्द प्रवाह मिलता है। वह अपने रचयिता की लोकोत्तर, शक्तिमयी कल्पना-शक्ति का दर्शन कराता, विश्व-भावनाओं को तरंगित करता और उसे दिव्य-रस के प्रवाह में प्रवाहित करता है। महाकाव्य का उद्देश्य है—जीवन की घनीभूत, विशदतम, निगूढ़ अनुभूतियों को अपने महाकलेवर में समेटे रहना और मानवीय उच्चादर्शों को उद्भावित करना।

साहित्य-दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ के अनुसार जो सर्गों में बँधा

श्रमभय कोलाहल, पीड़नमय
विकल, प्रवर्त्तन महायन्त्र का;
क्षण भर भी विश्राम नहीं है
प्राण दास है क्रिया-तन्त्र का।
भाव-राज्य के सकल मानसिक
सुख यों दुख में बदल रहे हैं;
हिंसा गर्वोन्नत हारों में
ये अकड़े अणु टहल रहे हैं।
ये भौतिक सदेह कुछ करके
जीवित रहना यहाँ चाहते;
भाव-राष्ट्र के नियम यहाँ पर
दण्ड बने हैं सब कराहते।

करते हैं, संतोष नहीं है
जैसे कशाघात प्रेरित से—
प्रतिक्षण करते ही जाते हैं
भीति-विवश ये सब कंपित से।
नियति चलाती कर्म-चक्र यह
तृष्णा-जनित ममत्व-वासना;
पाणि-पादमय पंच-भूत की
यहाँ हो रही है उपासना।
यहाँ सतत संघर्ष, विफलता
कोलाहल का यहाँ राज है;
अंधकार में दौड़ लग रही
मतवाला यह सब समाज है।
स्थूल हो रहे रूप बना कर
कर्मों की भीषण परिणति है;
आकांक्षा की तीव्र पिपासा।
ममता की यह निर्मम गति है।
यहाँ शासनादेश घोषणा
विजयों की हुंकार सुनाती;

हुआ हो वह महाकाव्य कहाता है। उसमें एक नायक होता है, जो देवता या उत्तम कुल का धीरोद्दात गुणों से युक्त क्षत्रिय होता है। एक वंश के कई राजा भी नायक हो सकते हैं। शृंगार, वीर और शांत रस में कोई एक रस अंगी होता है, अन्य रस गौण होते हैं। नाटक की सभी संधियाँ रहती हैं। उसकी कथा ऐतिहासिक अथवा लोक-प्रसिद्ध महापुरुष की होती है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इस चतुर्वर्ग में से उसका एक फल दिखाया जाता है। आरम्भ में मंगलाचरण या वर्ण्य-विषय का निर्देश होता है। कहीं कहीं खलों की निंदा और सज्जनों की प्रशंसा होती है। उसमें कम से कम आठ सर्ग रहने आवश्यक हैं। प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द होता है, किन्तु सर्ग का अन्तिम पद्य भिन्न छन्द का होता है, यद्यपि कहीं कहीं अपवाद भी दीख पड़ता है। सर्ग के अंत में अगली कथा की सूचना भी होनी चाहिए। उसमें संध्या सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष, अंधकार, दिवस, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र, संयोग, वियोग, स्वर्ग, नगर, यात्रा, संग्राम, अभ्युदय आदि विषयों का यथासंभव सांगोपांग वर्णन होना चाहिये। उसका नामकरण कवि अथवा चरित्र नायक के आधार पर होना चाहिए। प्रायः स्वतन्त्र नाम भी देखे जाते हैं।

पश्चिमी काव्य-शास्त्र के अनुसार महाकाव्य में कोई सच्ची ऐतिहासिक अथवा लोक-प्रसिद्ध वृहद् कथा वर्णित होनी चाहिए। वह कवि की कोरी मनगढ़ंत कल्पना न हो, हाँ—उसे अपने विचारों और आदर्शों के अनुसार वह कुछ परिवर्त्तित अवश्य कर सकता है। महाकाव्य का विषय महत्त्व-व्यंजक, उसके पात्र असाधारण और शौर्य गुण-सम्पन्न तथा नायक कोई महापुरुष होना चाहिए। कवि के लिए यह आवश्यक है कि वह कथा के मर्म में पैठ कर उसकी इस प्रकार कलात्मक अभिव्यंजना करे कि उसमें एकसूत्रता और शालीनता दृष्टिगत हो। वर्णन-शैली और भाषागत सौन्दर्य भी अपूर्व होना चाहिए। उसमें एक ही छंद का प्रयोग होना चाहिए। कथाओं, उपकथाओं और रोचक प्रसंगों के अतिरिक्त उसमें देवी-देवताओं और नियति की भी प्रमुखता होती है। महाकाव्य की कथा किसी व्यक्ति-विशेष की न होकर जातीय-भावना को प्रतिबिम्बित करती है।

पाश्चात्य और पौरस्त्य दोनों के लक्षणों में आधारभूत समानता

"प्रियतम ! यह तो ज्ञान-क्षेत्र है
सुख-दुख से है उदासीनता;
यहाँ न्याय निर्मम, चलता है
बुद्धि-चक्र, जिसमें न दीनता।
अस्ति-नास्ति का भेद, निरंकुश
करते ये अणु तर्क-युक्ति से;
ये निस्संग, किंतु कर लेते
कुछ सम्बन्ध-विधान मुक्ति से।
यहाँ प्राप्य मिलता है केवल
तृप्ति नहीं, कर भेद बाँटती;
बुद्धि, विभूति सकल सिकता-सी
प्यास लगी है ओस चाटती।
न्याय, तपस, ऐश्वर्य में पगे
ये प्राणी चमकीले लगते;
इस निदाघ मरु में सूखे-से
स्रोतों के तट जैसे जगते।
मनोभाव से कार्य-कर्म का
सम-तोलन में दत्त-चित्त से;
ये निस्पृह न्यायासन वाले
चूक न सकते तनिक वित्त से।
अपना परिमित पात्र लिये ये
बूँद-बूँद वाले निर्झर से
माँग रहे हैं जीवन का रस
बैठ यहाँ पर अजर-अमर से।
यहाँ विभाजन धर्म--तुला का
अधिकारों की व्याख्या करता;
यह निरीह, पर कुछ पाकर ही
अपनी ढीली साँसें भरता।
उत्तमता इनका निजस्व है
अम्बुज वाले सर-सा देखो;

यह मिलती है कि महाकाव्य में वर्णित विषय का उचित परिपाक, व्यंजना की प्रगल्भता और छलकता रस-प्रवाह होना चाहिए। जिसमें उत्कृष्ट व्यंजना, वैलक्षण्य और महाकवित्व नहीं – वह आकार में बड़ा होने पर भी महाकाव्य कहलाने का अधिकारी नहीं है। महाकाव्य में जीवन-समष्टि की अभूतपूर्व झाँकी, पार्थिव कर्त्तव्यों एवं चेष्टाओं का अवसान, सत्य, सौन्दर्य एवं स्वातन्त्र्य का अनूठा सम्मिश्रण और बाह्य एवं अंतर्जगत् को परिप्लावित करने वाली मंगलमयी निर्मल मंदाकिनी निर्झरित होती है, जिसमें अद्भुत श्री, अद्भुत शान्ति और सम्पूर्णता व्याप्त रहती है।

## महाकाव्य के मूल-तत्त्व

महाकाव्य के प्रमुख पाँच तत्त्व हैं– (१) सानुबंध कथा (२) वस्तु-वर्णन (३) भाव व्यंजना (४) देशकाल और (५) शैली।

महाकाव्य में कथा-प्रवाह पर विशेष ध्यान दिया जाता है। महाकाव्यकार किसी सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक गाथा को लेकर अपनी संघटित, सामूहिक शक्ति द्वारा मानव-आदर्श और विश्व-रुचि की स्थापना करता है। उसकी काव्य-सृष्टि के साधन किसी देश-विशेष अथवा काल-विशेष से सीमित हो सकते हैं, किन्तु उसके साधनों के भीतर वह प्रकाश छिपा रहता है जिससे प्रेरित होकर वह अपने अंतर्बाह्य को उदात्त भावनाओं से रंजित करता हुआ विशद चिंतन और विचार-बहुलता अपनाता है। वह प्रमुख इतिवृत्त के साथ गौण कथानकों, सर्वथा नवीन काल्पनिक घटनाओं, रसात्मक प्रसंगों और महत्त्वपूर्ण जीवन-दशाओं को भी समाविष्ट कर सकता है।

महाकाव्य में मनोज्ञ वर्णनों पर भी कवि का ध्यान केन्द्रित होना चाहिए, किन्तु कहीं कहीं वर्णन-योजना पर उसकी दृष्टि इतनी सुस्थिर हो जाती है कि वह समुचित प्रतिपादन-पद्धति की पर्वाह न करके विस्मयोद्बोधक, चमत्कारपूर्ण प्रसंगों के वर्णन में ही अपनी सारी शक्ति व्यय कर देता है।

भाव-व्यंजना के अंतर्गत कार्य-व्यापार, कथोपकथन और चरित्र-चित्रण आदि बातें आजाती हैं। विश्व-जीवन इतना जटिल और विविधता से पूर्ण है कि काव्यकार को उसके विराट् स्वरूप को हृदयङ्गम करने के

इतने में वैरी - सेना ने
राणा को घेर लिया आकर ।
पर्वत पर हाहाकार मचा
तलवारें झनकीं बल खाकर ॥

तब तक आये रणधीर भील
अपने कर में हथियार लिये ।
पा उनकी मदद छिपा राणा
अपना भूखा परिवार लिये ॥

लिए चारों ओर अपनी दृष्टि फैलानी पड़ती है। उसका परिशाध्ययन जितना ही सूक्ष्म, जितना ही परिस्थितिजन्य वैविध्य को स्पर्श करने वाला होगा उतना ही सफलता से चरित्र-चित्रण कर सकेगा।

जीवन के चित्रण के रूप में महाकाव्य का महत्व मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों के संघर्ष में है। महाकाव्य के पात्र किसी देश-विशेष और समय-विशेष के होते हैं, किन्तु उनमें इस प्रकार जीवन-तत्वों का संघटन होना चाहिए कि वे किसी एक युग, एक समाज और एक देश के न होकर सर्वदेशीय और मनुष्य की सनातन बहुविध प्रेरणाओं के प्रतीक बन जायँ।

महाकाव्य में आदर्श और उत्कृष्ट चरित्रों का चित्रण किया जाना ही अनिवार्य नहीं है। महान् से महान् व्यक्तियों में भी कुछ न कुछ त्रुटियाँ अवश्य होती हैं। चरित्र को सजीव और सहज गुणों से विभूषित करने के लिए उनमें अच्छाइयों-बुराइयों और जीवन के उन अंशों पर प्रकाश डाला जाना चाहिए कि स्थायी रूप से वे हमारी भावना का विषय बन जायँ। कथोपकथन पात्रों के अनुरूप और काव्य की उच्चाशयता को व्यक्त करने वाला होना चाहिए।

महाकवि अपने महाकाव्य में जिस कथा-खण्ड और जीवन के उदात्त-लक्ष्य को लेकर चलता है उसे तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक वातावरण की सापेक्षता में रखकर ही देखता-जाँचता और अपने विषय का प्रतिपादन करता है। रामायणकालीन अथवा किसी भी युग विशेष की कथाओं-उपकथाओं को लिखते हुए लेखक को उस समय की परिस्थितियों और वातावरण का ठीक ठीक परिज्ञान अपेक्षित है। यदि वह इसका ध्यान नहीं रखेगा तो अपने ध्येय की पूर्त्ति न कर सकेगा।

महाकाव्य को लिखने की शैली प्रभविष्णु और उदात्त होनी चाहिए ताकि स्वानुभूति और लोकानुभूति के सर्वसामान्य तत्वों को समन्वित किया जासके। काव्यकार की महती कृति आत्मरुचि की भावना से अनुप्राणित होकर ही मंगलमयी और वैभव-सम्पन्न हो सकती है।

आ ! मुकुटमणि ! शीश
धर दूँ, राज्यदंडोत्सर्ग,
राज्य कर संहारिणी,
तू भस्म कर दे स्वर्ग !

आज ही सम्राट के
उर पर पड़ा आघात !
वह पराजित, पददलित,
है पतित, प्रणिपात !

तोड़ दूँगा किंतु तेरा
भी जटिल छल दंभ,
आज अन्तिम सर्ग का
होगा मधुर विष्कंभ !

ले कमललोचन, लिये
ये हाथ में नवजात
बुझा ले तृष्णा हृदय की
सुधा से हो स्नात,

कामुकी ! पशुवृत्तिके !
चंडालिनी ! कृतघ्न !
खोल दीं आँखें अभी तक
मैं बना था अज्ञ ! !

आज अपनी नग्न असि
का करूँगा शृंगार
आज युग से, पुनः उमड़े
आज शोणित धार !

बने अकलंकित कलंकित
का कलेवर नीर,
स्नान शोणित में करे
मन्दाकिनी गंभीर !

## महाकाव्यों की परम्परा

हमारे देश में वर्त्तमान् काल में ही नहीं वरन् वैदिक और पौराणिक युग के मध्यवर्त्ती समय अर्थात् ईसा से कई हज़ार वर्ष पूर्व से श्रीमद्वाल्मीकीय 'रामायण' और श्रीवेदव्यास द्वारा रचित 'महाभारत' इन दो वृहद् महाकाव्यों का प्रचार है। ये महाकाव्य जितने प्राचीन हैं उतने ही समृद्ध भी हैं। साथ ही इनमें महाकाव्यों की विलक्षण और ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा का चमत्कार भी दीख पड़ता है।

श्रीवाल्मीकि कृत रामायण में मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम की कथा विशद रूप से वर्णित है। इसमें इतिहास और कल्पना का सुन्दर सम्मिश्रण है। क्या लोकपक्ष, क्या अध्यात्म दोनों ओर इसकी गूढ़ता, गंभीरता और सरसता महान् है। राम की सामान्य जीवन-दशाओं को सामने रखकर उन्होंने अपनी कल्पना के उत्कर्ष द्वारा साधारण जनता के हृदय में उनका आदर्श मानव-रूप प्रतिष्ठित किया। काव्य की उदात्त गंभीरता एवं दार्शनिक-पुष्टता लोकोत्तर और मनुष्य की कल्पना से परे है। कथाओं, उपकथाओं और जीवन-वृत्तों द्वारा मानव की विराट्-शक्ति का दिग्दर्शन कराया गया है।

श्री वेदव्यास ने कौरवों-पाण्डवों के महायुद्ध की वृहद् कथा बड़ी दक्षता और दृढ़ता से चूल बिठाकर एक महागाथा के रूप में प्रस्तुत की। आरम्भ की कितनी ही घटनाओं का अन्त में जाकर समाहार होता है और स्फुट कथाओं के अत्यन्त विस्तृत और अनूठे वर्णन इस सागर के भीतर लहरें मार रहे हैं। महाभारत में पार्थिव-शक्ति की पराकाष्ठा के साथ-साथ अलौकिक तत्वों का समावेश भी है। कथा-सृष्टि जटिल, परम्परा-प्राप्त और मंथर गति से आगे बढ़ती है। इसमें कर्त्तव्याकर्त्तव्य और धर्माधर्म का बहुत ही सूक्ष्म विवेचन है और ईश्वर, जीव, सृष्टि, ईश्वर-प्रेम, जगत् की निस्सारता आदि पर प्रकाश डाला गया है।

इन दोनों महाकाव्यों में सदियों का इतिहास समाया हुआ है, न केवल इनका प्रभाव अपने देश तक ही सीमित है, वरन् इतर देशों, जातियों एवं संस्कृतियों पर भी इनका प्रच्छन्न प्रभाव द्रष्टव्य है। दार्शनिक गूढ़ता, व्यापक अनुभूति और सृजन-सामर्थ्य में तो ये महा-

'महाराज ! सुनें इधर,
कुछ तो कहूँ मैं आय !
एक भिक्षा आज दें,
निज पुत्र भिक्षु विचार्य !'

हुए शांत प्रशांत नृपवर,
कहा 'तुम्हें कुणाल,
क्या अदेय रहा ? सभी
कुछ तो तुम्हारा लाल !'

'पुत्र के हित राजमाता
को मिले यह दण्ड,
कौन होगा और इससे
पाप अधिक प्रचंड

महाराज ! प्रथम हमारा
शीश कर लो छिन्न,
फिर, जननि का शीश होगा
कंठ से विच्छिन्न !

'या—विनीत भिखारियों को
आज दो यह दान
राजमाता को करो, या
आज क्षमा-प्रदान !'

गई टकरा रोप की
लहरें कठिन तट प्रान्त,
लौट आईं उच्छ्वसित ।
फेनिल गंभीर प्रशांत ।

रहे व्यथित अशोक
[illegible] [illegible] चुपचाप
कहा, 'धन्य कुणाल तुमने
ले लिया अभिशाप !

काव्य ग्रीस के सुप्रसिद्ध होमर कृत 'इलियड' ( Illiad ) और 'ओडेसी', इटली के महाकवि वर्जिल और दांते के महाकाव्य 'इनियड' ( Aeneid ) और 'दि डिवाइन कॉमेडी' ( The Divine Comedy ) और मिल्टन का अंग्रेजी महाकाव्य 'पैराडाइज़ लॉस्ट' ( Paradise Lost ) आदि से भी बाज़ी मार ले जाते हैं। इनमें हमारे महर्षियों की साधना और संकल्प साकार हो उठे हैं, जो मानव जीवन के विभिन्न आदर्शों, भावनाओं, अभावों, पूर्त्तियों एवं संख्यातीत विविधताओं का चित्रांकन प्रस्तुत करते हैं।

इन महाकाव्यों का विषय था मानव-जीवन सम्बन्धी शाश्वत एवं चिरंतन मनोभाव, किन्तु ज्यों-ज्यों लोगों ने नवीन विचार-धारा को प्रश्रय दिया और साहित्य आदर्शवाद से यथार्थवाद की ओर झुका, त्यों-त्यों मानव-परिवेश के व्यापक तत्व घटते गए। प्राचीन आदर्श पिछले युगों की विरासत के रूप में चलते रहे, किन्तु उनमें अत्युत्कृष्ट कला का संबल शिथिल और जीवन की समग्रता के पक्ष इने-गिने रह गए। संस्कृत में कुछ काल तक व्यक्ति-प्रधान—यथा 'रघुवंश', 'बुद्ध-चरित', 'विक्रमांकदेव चरित' और घटना-प्रधान यथा 'किरातार्जुनीय', 'शिशुपालवध', 'कुमारसंभव' आदि महाकाव्यों की परिपाटी चलती रही, लेकिन उनमें 'रामायण', 'महाभारत' की भाँति विश्व-चेतना का विराट् मर्मस्पर्शी स्पंदन न सुन पड़ा।

किसी भी राष्ट्र अथवा जाति के इतिहास में महाकाव्यों का उद्-भव एक विशिष्ट युग में ही हुआ करता है। अपनी आदिम अवस्था में कवि जीवन को समष्टि रूप में अपनाकर उसमें अपनी भावनाओं का उन्मेष करता है। ऐसे युग में लोकोत्तर शक्ति में विश्वास, दैवी देव-ताओं में आस्था और नियति से बँधे रहने में ही उसे अपना कल्याण दीख पड़ता है। रामायण, महाभारत आदि महाकाव्यों में साहसिक कृत्य, संग्राम और दैवी-दुर्घटनाओं का बाहुल्य है। मनुष्य देवताओं और नियति के हाथ का खिलौना है, उनकी दुर्दम्य शक्ति उससे खिलवाड़ करती है। जिसकी तह में वह नहीं घुस पाता उसे ही प्रारब्ध मान जीवन की विवश परिस्थितियों को वह सिर झुकाकर स्वीकार करता है, किन्तु ज्यों-ज्यों उसका ज्ञान विकसित होता जाता है और समाज एवं राष्ट्र द्वारा निर्धारित नियमों में उसकी बुद्धि बँधती जाती

है, त्यों-त्यों अनेक समस्याएँ उभरकर उसकी संघठित समूह-शक्ति और आदिम-भावना को नष्ट कर देती हैं।

किसी भी साहित्य से हमें युग की शक्तियों को परखने की प्रेरणा मिलती है। वाह्य-आवेष्ठन के पहलू नित्य बदलते रहते हैं, अतएव साहित्य के मानदण्ड और मनुष्यों के मन भी बदलते रहते हैं। पुरातन आदर्श, महाकाव्यों के वर्ण्य-विषय और ऐतिहासिक एवं पौराणिक आख्यानों के प्रति लोगों की आस्था घट गई है। युग की विभिन्न माँगों, समस्याओं और शंकाओं में उनकी वृत्ति इतनी रम गई है कि जीवन के नानाविध स्थायी पटलों पर उनकी दृष्टि टिक नहीं पाती। तात्कालिक भौतिक समस्याओं में उलझे रहने के कारण उनकी क्रियाशीलता और जीवन में आनन्द की अनुभूति जैसे जैसे कम होती-जाती है, वैसे-वैसे उत्कृष्ट महाकाव्यों का युग भी एक प्रकार से समाप्त होता जाता है।

हिन्दी में पहला वास्तविक महाकाव्य चन्दवरदाई का 'पृथ्वीराज रासो, कहा जा सकता है। इससे पूर्व नरपति नाल्ह का 'वीसलदेव रासो एक खण्ड-काव्य लिखा गया था, किन्तु इसके अधिकांश वृत्त काल्पनिक और अप्रामाणिक हैं।

'पृथ्वीराज रासो' ६९ सर्गों में ढाई हज़ार पृष्ठों का महत्त्वपूर्ण महाग्रन्थ है। इसकी रचना संभवतः सोलहवीं शताब्दी में हुई, यों रासो में दिए गए संवतों आदि का ऐतिहासिक तथ्यों से सामंजस्य न होने के कारण इधर विद्वानों में मतभेद उत्पन्न होगया है।

बुन्देलखण्ड के महोबे के चन्देल राजा परमाल ( परमार्दिदेव जयचंद ) के आश्रित जगनिक नाम के एक भाट थे, जिन्होंने आल्हा और ऊदल वीरों के साहसिक कृत्यों का वर्णन वीर प्रगीतात्मक काव्य पद्धति पर किया। आजकल जो 'आल्हा' गाया जाता है उसका पुराना मूल रूप बहुत कुछ विकृत हो चुका है और सामग्री भी अप्रामाणिक है। 'आल्हा' की ही तरह 'ढोला' की भी स्थिति है जिसे सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में आलम ने लिखा था, किन्तु जो कुछ समय बाद जैन कवि कुशलाभ द्वारा लिपिबद्ध किया गया। 'ढोला' महाकाव्य मध्यभारत और मध्यप्रदेश में बहुत प्रचलित है।

सूफी काव्य-परम्परा में मसनवी शैली पर लिखे गए 'मृगावती', मधुमालती,' 'मुग्धावती' और 'प्रेमावती' आदि प्रेमकाव्यों के अतिरिक्त मलिक मुहम्मद जायसी का सुप्रसिद्ध 'पद्मावत' महाकाव्य मिलता है जो ईसवी सन् १५२० ( ६२७ हिजरी ) के लगभग लिखा गया। इसमें अलाउद्दीन और पद्मावती के ऐतिहासिक आख्यान को लेकर लोकपक्ष और अध्यात्म-पक्ष दोनों का सूक्ष्म सम्मिश्रित रूप प्रस्तुत किया गया है।

भक्तिकाल में राम-भक्ति शाखा के अंतर्गत गोस्वामी तुलसीदास का 'रामचरित मानस' अभूतपूर्व वृहद् महाकाव्य है। काव्य के उत्कर्ष और समुचित विकास के लिए जितने उपकरणों, जीवन-संश्लिष्ट चित्रों और कल्पना-वैभव की अपेक्षा है उतनी भावराशि और ज्ञात-अज्ञात भावनाएँ उसमें बिखरी हुई हैं। तुलसीदास जी ने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा और समन्वय-बुद्धि से जीवन की संकुल सघनता में झाँककर मनुष्य की भीतरी प्रवृत्तियों का वाह्य-प्रकृति से सामंजस्य घटित करते हुए दार्शनिक-चिन्तन, लोक-कल्याण-भावना, उज्ज्वल उदात्त कल्पना, विलक्षण अनुभूति-क्षमता, अद्भुत काव्य-शिल्प और युग-युग का शाश्वत सत्य प्रकट किया।

भक्तिकाल की अन्य स्फुट रचनाओं में लालचदास का 'हरि-चरित्र' नरहरि का 'रुक्मिणी-मंगल', नरोत्तमदास का 'सुदामा-चरित्र', और केशवदास के 'वीरसिंहदेव चरित' और 'राम-चन्द्रिका' आदि आख्यान-काव्य भी लिखे गये हैं, किन्तु पहले तो काव्य की कोटि में नहीं रक्खे जा सकते, हाँ 'राम-चन्द्रिका' इनमें अवश्य सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ है। केशवदास में सबन्ध-निर्वाह और कथा के गंभीर और मार्मिक स्थलों को पहचानने की क्षमता न थी। जीवन के अंतरंग पहलू, उदात्त कोमल-भावना और प्रकृति की सौन्दर्य-सुषमा के प्रति उनका विशेष आकर्षण न था, यही कारण है कि उनमें काव्य का समुन्नत और व्यवस्थित रूप देखने को न मिला।

हिन्दी-साहित्य के नवोत्थान में राम और कृष्ण की सरस लीलाओं को लेकर अनेक प्रबन्ध-काव्य लिखे गए जिनमें महाराज रघुराज सिंह कृत 'रुक्मिणी परिणय' ( १८५० ई० ) और 'राम स्वयंवर' ( १८७७ ई० ) तथा बाबा रघुनाथदास रामसनेही का

'विश्रामसागर' ( १८५४ ई० ) महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं । इनमें साहित्यिक सौन्दर्य न होते हुए भी वर्णनात्मक-शक्ति और निर्माणमयी समन्वय कारी प्रतिभा द्रष्टव्य है ।

## प्रिय-प्रवास

आधुनिक काल में काव्यों का आरम्भ पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय के 'प्रिय-प्रवास' से समझना चाहिए । राधा-कृष्ण-प्रेम की परम्परा का निर्वाह करते हुए उन्होंने सत्रह सर्गों में प्रेम और करुण-रस से सिक्त उक्त महाकाव्य की रचना की, जिसमें कंस के निमंत्रण पर श्रीकृष्ण का मथुरा-प्रयाण, शोकमग्न व्रजवासियों की दयनीय दशा, नंद यशोदा का विलाप, राधा की विरह-व्यथा, गोप-गोपियों का असीम प्रेम तथा प्रसंगवश कितनी ही स्मृतियाँ, पीड़ाएँ, कृष्ण की लीलाओं के स्मरण, उनके सुख-दुःख की सिहरती इच्छाएँ आदि इस काव्य-ग्रन्थ में बिखरी पड़ी हैं । राधा और कृष्ण का बचपन से साथ है, दोनों साथ-साथ खेले और बड़े हुए हैं । दोनों को एक दूसरे को प्राप्त करने और अपना बना लेने की इच्छा है, किन्तु मथुरा से असमय में ही बुलावा आता है और कृष्ण सदैव के लिए दूर चले जाते हैं । राधा कृष्ण के वियोग से व्यथित हो उठती हैं । उनका अनुराग विराग में बदल जाता है और निराश आशा की अन्तिम दवा वैराग्य पूर्ण निर्वेद की घूँट पीकर उनकी प्यार की मधुरिमा साधना की कठोरता में परिणत हो जाती है । वे वियोगिनी से साधिका और साधिका से लोक-सेविका बन जाती हैं । शनैः-शनैः वे उस सतह पर पहुँच जाती हैं जहाँ प्रिय-वियोग की व्यथा उनके कोमल हृदय को प्रति कम्पित न कर एकात्म भाव स्थापित करती है ।

उपाध्याय जी ने राधा को एक दूसरे ही रूप में चित्रित करके अपने काव्य को और भी मर्मस्पर्शी बना दिया है । वे करुणा की साक्षात् मूर्ति हैं, प्रेम की अजस्र धारा उनके अन्तर में बहती है । किन्तु न केवल वे अपने दुःख से दुखी हैं, वरन् दूसरों की व्यथा से भी उनकी आँखें गीली हैं :

> इन विविध व्यथाओं मध्य डूबे दिनों में
> अति-सरल-स्वभाव सुन्दरी एक बाला ।
> निशि-दिन फिरती थी प्यार से सिक्त हो के
> गृह, पथ, बहु-बागों कुंज-पुंजों, वनों में ।

कृष्ण-प्रेम से प्रेरित होकर राधा में सत्-असत् का ज्ञानोदय होता है। प्रेम और कर्तव्य के द्वन्द्व में यद्यपि उनका हृदय प्रेम की ओर अधिक झुका है तथापि कर्त्तव्य उसे सँभाले हुए है।

'दीनों की थीं बहिन, जननी थीं अनाश्रितों की।
आराध्या थीं ब्रज-अवनि की प्रेमिका विश्व की थीं।'

हरिऔध जी ने कृष्ण-काव्य-परम्परा में नवीन भाषा और शैली में 'प्रिय प्रवास' की रचना करके एक युगान्तर उपस्थित किया है। 'प्रिय-प्रवास' से पूर्व खड़ी बोली में कोई मौलिक काव्य-ग्रन्थ न था। जो लिखे गए थे वे ब्रज-भाषा में थे या खण्ड-काव्य थे। 'प्रिय-प्रवास' में संस्कृत की नूतन शब्द-शक्ति के चमत्कार के साथ-साथ नए-नए विचारों की उद्भावना भी मिलती है। पद्य-प्रवाह की गति भी बदल दी गई है। मालिनी, मन्दाक्रान्ता, वंशस्थ, वसंततिलका, द्रुतविलम्बित, शार्दूल विक्रीड़ित तथा शिखरिणी आदि संस्कृत के सात छन्दों में उन्होंने अन्त्यानुप्रासहीन ( अतुकान्त ) कविता का प्रयोग किया है। यद्यपि 'प्रिय-प्रवास' में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में है और पंक्तियाँ भी दीर्घ समासों से लदी हुई हैं; तथापि ललित शब्दावली और एक पंक्ति दूसरी पंक्ति पर उतर-कर माधुर्य झलका देती है। कविता का उन्मुक्त रूप इस प्रकार बिखरता चलता है जो कलाकार की प्रतिभा और नई सूझ का द्योतक है।

अन्य कवियों की अपेक्षा उपाध्याय जी की भक्ति-भावना में एक विशेषता यह है कि उन्होंने कृष्ण को ईश्वर मानते हुए भी मानवरूप दे दिया है, उनकी अद्भुत लीलाओं और लोकरंजक रूप को नए दृष्टिकोण से देखा-परखा है। आज के बौद्धिक-युग में जबकि तिल का पहाड़ बनाया जाता है और बाल की खाल निकाली जाती है उन्होंने कृष्ण-भक्तिपरक, अलौकिक लीलाओं को विश्वसनीय एवं ग्राह्य बनाने के लिए लोक-हितकारी, लौकिक रूप दे दिया है। उनकी गोप-गोपिकाएँ न केवल कृष्ण के मनोहारी रूप और चापल्य पर मुग्ध हैं, वरन् उन्होंने अपनी सेवाओं, सदाचरणों और परोपकारी उदात्त भावनाओं से सब के हृदय जीत लिए हैं। गोपियों के साथ वे केवल केलि-क्रीड़ा और हास-परिहास में ही निमग्न नहीं

रहते, वरन् घर-घर में घूम-घूम कर प्रत्येक कार्य में हाथ बँटाते और दूसरों की सेवा करते हैं।

'रोगी दुखी विपत आपत में पड़े की।
सेवा अनेक करते निज हस्त से थे॥
ऐसा निकेत ब्रज में न मुझे दिखाया।
कोई जहाँ दुखित हो पर वे न होवें॥'

रास के समय अकेली गोपियाँ ही नहीं हैं, बल्कि गोप भी हैं। गोप-गोपियाँ परस्पर आमोद-प्रमोद करते हैं, एक दूसरे पर पुष्प वर्षा करते हैं, वीणा, मृदंग वाद्यादि बजाते हैं और शोभामयी प्रकृति की गरिमा में विभोर से दीख पड़ते हैं। गोप-गोपियों की टोलियाँ ज्योत्स्ना-स्नात निकुञ्जों, रमणीक स्थलों और हरी-भरी शुभ्र अवनि में विचरण करती घूम रही थीं। कृष्ण भी उनमें सम्मिलित थे और परस्पर प्रेम और सती-महिमा का बखान कर खुश हो रहे थे।

'थे यों ब्रजेन्द्र कहते ललना-सती को,
स्वामी बिना सब तमोमय है दिखाता।'

कृष्ण-भक्ति शाखा के अन्तर्गत सूरदास आदि भक्त कवियों ने कृष्ण के परम्परागत भगवद्-रूप और उनके अद्भुत शील, सौन्दर्य आदि को अपनाकर उनकी लीलाओं का गुणगान किया, जो लोकातीत और सामान्य जीवन के लिए आदर्श न बन सकता था। हरिऔध जी ने इसके विपरीत लौकिक और अलौकिक दोनों में सामञ्जस्य-घटित किया। वर्षा से आप्लावित ब्रज की कृष्ण ने इस तत्परता और दक्षता से रक्षा की कि लोग कहने लगे मानों उन्होंने गोवर्द्धन पर्वत को हाथ पर ही उठा लिया।

'लख अपार प्रसार श्री गिरीन्द्र में
ब्रज धराधिप के प्रिय पुत्र का
सकल लोग लगे कहने उसे
रख लिया उँगली पर श्याम ने।'

प्रचंड दावानल के समय जब भगवान् श्री कृष्ण का अग्नि पी

जाने का उल्लेख श्रीमद्भागवत में मिलता है 'प्रिय प्रवास' में गोपों और गायों के साथ दौड़कर बाहर निकल भागने तथा कालिय नाग-दमन के समय बाँसुरी की तान से उसे मुग्ध करने की अपेक्षा नाना उपाय और कौशलों से उसका निपात चित्रित किया गया है।

'सुकौशलों से घर अस्त्र शस्त्र से।
उसे निपाता व्रज भूमि रत्न ने॥'

इस प्रकार 'प्रिय-प्रवास' में परम्परागत घटनाओं पर नूतन प्रकाश डाला गया, किन्तु उपाध्याय जी की ये नवीन उद्भावनाएँ उन तक ही सिमट कर रह गईं। उनका प्रचार-प्रसार न हुआ। राम और कृष्ण के भगवदीय स्वरूप और उनके शील-शक्ति-सौन्दर्य की जो शाश्वत झाँकी कवियों के उर में अंकित है उसके संस्कार कभी मिटाए नहीं मिट सकते।

'प्रिय-प्रवास' को महाकाव्य की कसौटी पर कसते हैं तो उसमें राधा कृष्ण लोक-प्रसिद्ध नायक नायिका, सप्तदश सर्ग, संस्कृत के साथ छन्दों का प्रयोग, शृंगार और करुण-रस, संयोग-वियोग, सन्ध्या-रात्रि, अन्धकार-दिवस, प्रातः-मध्याह्न, नगर-नदी, वन-पर्वत, छओं ऋतु, पशु-पक्षी, वृक्ष-लताएँ आदि सभी अनिवार्य तत्त्व जुटा दिए गए हैं। प्रेम की अन्तर्दशाओं के साथ-साथ आशंका, प्रेम, विह्वलता, भग्न इच्छाएँ, माँ का सिसकता स्नेह आदि वर्णित है, प्रकृति के रम्य स्थलों का अनूठा चित्रण है; किन्तु काव्य की कथा- वस्तु इतनी अल्प है जो प्रबन्ध-काव्य के उपयुक्त नहीं। सातवें सर्ग से ही कथा का सूत्र विच्छिन्न हो जाता है, यों राधा, गोप गोपी और नन्द-यशोदा का विलाप-वर्णन सत्रह सर्ग तक चलता रहता है।

निःसन्देह 'प्रिय प्रवास' एक महिमामयी और गरिमामयी कृति है। उसमें न केवल प्रगतिशील तत्व और विचार-दर्शन की व्यापकता है, वरन् प्राचीनता के साथ-साथ नूतनता और आदर्शात्मकता के साथ-साथ यथार्थता भी है। वह आधुनिक हिन्दी काव्यों का अनुप्रेरक सिद्ध हुआ है।

## साकेत

काव्य में व्यंजक-शैली, व्यापक सहानुभूति, कुशल अभिव्यक्ति और सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति आदि जो गुण अपेक्षित हैं—वे सब 'साकेत' में सहज रूप में विद्यमान हैं। उसमें कलावाद, वैचित्र्य और जीवन की अनेक परिस्थितियों को नित्य नए रूपमें रखने की चाह नहीं है, अपितु विस्तृत भाव-भूमि पर साधनात्मक प्रकृत-पथ अपनाया गया है। जीवन के सत्य, सुन्दर रूप को हृदयंगम करके गुप्त जी ने अपनी परिष्कृत सूक्ष्म और समन्वित अभिरुचि का परिचय दिया है।

राम-कथा प्रसंग में उर्मिला की पीड़ा और व्यक्तित्व, जो अबतक तिरोहित था, उसे गुप्त जी ने नवीन रूप देकर अत्यन्त सरसता और कौशल से चित्रित किया है। उसके पति-वियोग की कसक, तूफ़ानी हलचल और अनंत प्रतीक्षा की नीरव व्यथा जो परम्परागत प्रसंगों के भार से अभी तक दबी हुई भीतर-ही-भीतर अभिव्यक्ति के लिए छट-पटा रही थी, वह अनुकूल अवसर पाकर प्रकट हो गई।

वस्तुत: प्राचीन और अर्वाचीन कवियों के दृष्टिकोणों में भी पर्याप्त अन्तर है। भगवान् राम के अपूर्व प्रेम-रस से सिक्त उन महाकवियों की लेखनी को इतना अवकाश ही कहाँ था कि वे ब्रह्म की सत्ता से परे इतर मानवों के राग-विराग, और सुख-दु:खों की गाथा भी कह सकें। राम-सीता से भिन्न लक्ष्मण-उर्मिला के प्रेम की कल्पना और फिर वनवास के बाद प्रभु-वियोग के ताप के समक्ष वासनात्मक, ऐहिक प्रेम की प्रमुखता उन कवियों को कदाचित् रुचिकर न हुई होगी। अयोध्या में कौन ऐसा अभागा प्राणी था जो राम के दर्शनों की लालसा में भीतर ही-भीतर न घुट रहा था। भरत, माताएँ, अयोध्यावासी सभी तो राम-वियोग में छटपटा रहे थे और फिर कौन जाने अल्प-वयस्का नव-वधू उर्मिला राम की भक्ति में ऐसी विह्वल और आत्म-विस्मृत हो कि उसे पति के अभाव की सुधि भी न रह गई हो अथवा राम और लक्ष्मण का पृथकत्व मिटकर उसकी विराट् दृष्टि में व्यापक बनकर समा गया हो। जब व्यथा सघन होती है तो अनुभूति-शक्ति भी शिथिल और स्तब्ध हो जाती है, उसका न विश्लेषण अभीष्ट है और न उसकी व्याख्या ही संभव है। कदाचित् यही कारण है कि राम-सीता के व्यक्तित्व से

लिपटे-चिपटे लक्ष्मण-उर्मिला वाल्मीकि, तुलसी आदि कवियों की दृष्टि में धुँधले से बन कर रह गए हों और उन्होंने उनके अन्तर्मन की सूक्ष्म प्रक्रियाओं एवं जीवन-सूत्रों को सुलझाने की आवश्यकता न समझी हो।

'साकेत' और प्राचीन काव्य-ग्रन्थों के लक्ष्मण में भी भेद है। 'रामचरितमानस' में लक्ष्मण के सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवन-तन्तु राम में समाहित हैं, उनका 'स्व' मिटकर राममय होगया है। राम जहाँ भी जाते हैं और जो भी करते या सोचते हैं—लक्ष्मण छायावत् उनका अनुसरण करते हैं। वनवास के समय लक्ष्मण को राम के साथ जाने की बाध्यता नहीं है, तो भी क्या वे उनके बिना जीवन की कल्पना कर सकते हैं?

'गुरु पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू।
जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥
मोरे सबइ एक तुम स्वामी। दीनबन्धु उर अंतरजामी॥'

राम जब लक्ष्मण को देश-काल और नीति का उपदेश देते हैं तो लक्ष्मण का मुख कुम्हला जाता है और वे अधीर हो उठते हैं।

'सिअरे बचन सूखि गए कैसे, परसत तुहिन तामरस जैसे।
उतरु न आवत प्रेम बस गहे चरन अकुलाइ।
नाथ दास मैं स्वामि तुम तजहु त काह बसाइ।'

साथ जाने की आज्ञा प्राप्त करके लक्ष्मण राम के आग्रह से माता सुमित्रा से मिलने जाते हैं, किन्तु उनका मन उधर नहीं, राम के साथ ही रहता है।

'जाइ जननि पग नायउ माथा। मनु रघुनन्दन जानकि साथा।'

माता से विदा माँगते हुए भी उनके मन में आशंका बनी रहती है—ऐसा न हो यह स्नेहवश मना कर दें। माता सुमित्रा राम के वन-गमन की बात सुन कर सहम जाती हैं, उनके मुँह का रंग उड़ जाता है, लेकिन लक्ष्मण सोचते हैं कि यह मेरे कारण तो दुःखी नहीं, कहीं यह मुझे साथ जाने से तो न रोक लेंगी।

'माँगत बिदा सभय सकुचाहीं, जाइ संग विधि कहिहि की नाही॥'

आशा के विपरीत साथ जाने की आज्ञा पाकर भी शंका बनी ही रहती है, वे दौड़कर इस प्रकार राम के पास जाते हैं जैसे रस्सी में बँधा हुआ मृग भाग्यवश फंदा तोड़ कर नौ दो ग्यारह होता है।

'मातु चरन सिर नाइ चले तुरत संकित हृदय।
बागुर विषम तोराइ मनहुँ भाग मृग भाग बस॥'

ऐसी स्थिति में लक्ष्मण उर्मिला के मिलन का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। जिसको पल-पल भारी है, जिसने अपना समस्त तन, मन, धन राम के चरणों में समर्पित कर दिया है, उसे नारी का बंधन कैसे बाँध सकता है!

'छिनु-छिनु लखि सिय राम पद जानि आपु पर नेह।
करत न सपनेहुँ लखन चितु बंधु मातु-पितु गेहु॥'

इसके विपरीत 'साकेत' के लक्ष्मण में आधुनिकता का पुट है। प्रथम सर्ग में ही लक्ष्मण-उर्मिला का प्रेमालाप बीसवीं शताब्दी के नवयुवक-नवयुवती-सा सरस और कहीं-कहीं अश्लील भी हो उठा है। वन-गमन के समय लक्ष्मण ऊपर से शान्त, किन्तु भीतर से अशान्त हैं। मन में कुछ-कुछ चुभता और कुलकता-सा है—

'लक्ष्मण का तन पुलक उठा, मन मानों कुछ कुलक उठा।'

'साकेत' के लक्ष्मण 'मानस' के लक्ष्मण की भाँति निस्पृह भी नहीं हैं, वे कई बार उर्मिला का ध्यान करते हैं; एकान्त-शान्त वातावरण में उन्हें प्रिया की बरबस सुधि हो आती है। वन में सीताहरण के पश्चात् राम का विलाप सुनकर उन्हें भी उर्मिला की याद आजाती है और राम के अश्रु देखकर उनका भी क्षुब्ध मन खोया-खोया और रोया-रोया-सा हो जाता है।

'मिला उसी दिन किन्तु तुम्हें मैं खोया-खोया
जिस दिन आर्या बिना आर्य का मन था रोया,
आँखों में ही रहीं अभी तक तुम थीं मानो
अन्तस्तल में आज अचल निज आसन जानो।'

गुप्त जी ने प्राचीन कथानक में भी हेर-फेर किया है। भरत, कैकेयी और सीता को उन्होंने अधिक वाक्-पटु और व्यवहार-कुशल चित्रित किया है। वन-मार्ग में जब ग्रामीण नारियाँ सीता जी से प्रश्न करती

हैं—"शुभे, तुम्हारे कौन उभय ये श्रेष्ठ हैं?" तो वे सरल, स्वाभाविक ढंग से उन्हें उत्तर देती हैं—"गोरे देवर श्याम उन्हीं के श्रेष्ठ हैं।" उनमें आज की नारियों की-सी स्पष्टता है, रनिवास में रहने वाली सलज्जा नववधू का-सा मुग्धा-भाव नहीं। इसी प्रकार 'मानस' में जहाँ भरत अत्यन्त विनम्र, गंभीर और संकोची स्वभाव के हैं, वहाँ 'साकेत' में अधिक मुखर हो उठे हैं। राम से अयोध्या लौटने का आग्रह करते हुए उनमें वाद-विवाद और तर्क की प्रवृत्ति अधिक लक्षित होती है। कैकेयी भी अपेक्षाकृत सजग, वाचाल और गतिशील है, 'मानस' की कैकेयी की भाँति गहन-गम्भीर और दुर्भेद्य नहीं। कैकेयी-हठ के प्रसंग में जिस मनोवैज्ञानिक भित्ति पर गुप्त जी ने कैकेयी द्वारा राम को वनवास दिलाया है वह भी 'मानस' से कुछ और भिन्न ढंग का है। 'मानस' की कैकेयी की तरह 'साकेत' की कैकेयी राम के राज-तिलक से अनभिज्ञ नहीं है। मंथरा दासी से वार्त्तालाप के सिलसिले में उसके दिल पर गहरा आघात होता है। जाने या अनजाने दासी मंथरा ऐसी बात कह जाती है जो राम-वनवास की मूल प्रेरणा बन जाती है :

"भरत से सुत पर भी संदेह, बुलाया तक न उसे जो गेह।"

पुत्र के अपमान की चोट से कैकेयी की समस्त दर्प-भावना और क्रूरता सजग हो जाती है। पुत्र-प्रेम उसके विवेक को नष्ट कर देता है और उसके मस्तिष्क में विचारों का ऐसा भीषण तूफ़ान उठता है जो उसकी कोमल भावनाओं को समेट ले जाता है।

इसी प्रसंग को तुलसीदास जी ने बड़ी मानोवैज्ञानिक बारीकी से आँका है। कैकेयी राम को सदा भरत से अधिक मानती आई हैं, छोटे भाई से बड़े भाई का महत्व भी उनकी दृष्टि में अधिक है। यदि दशरथ ने सब बातें पहले ही बता दी होतीं तो वे सहर्ष अनुमति दे देतीं और कोई झंझट-बखेड़ा न होता। लेकिन यहाँ तो संयोग ही कुछ ऐसा बन गया कि ज्यों ही उन्हें मंथरा द्वारा राजतिलक का शुभ-संवाद मिला त्योंही उनमें सौतिया-डाह के बीज बो दिए गए। मंथरा तरह-तरह से समझा-बुझाकर, अच्छा-बुरा और ऊँच-नीच सुझाकर और अनेक दुष्ट सपत्नियों के दृष्टांत देकर उनमें प्रचंड द्वेष-भावना जगाती है।

तिस पर भी उनका सरल मन बहुत देर बाद परिस्थिति की गंभीरता में पैठ पाता है। यह सुन कर कि भरत राम द्वारा बन्दी बना लिये जायँगे और वे स्वयं भी दूध की मक्खी की भाँति निरादृत होंगी उनका अणु-अणु काँप जाता है 'तन पसेउ कदली जिमि काँपी' और फिर उनमें जो अंतर्द्वन्द्व और भावों का आलोड़न-विलोड़न होता है वह बड़ा ही स्वाभाविक और 'भरत से सुत पर भी सन्देह, बुलाया तक न उसे जो गेह' से अधिक सबल कारण है। 'मानस' की केकैयी के समक्ष राम और भरत के मानापमान का प्रश्न नहीं है, उन्हें दुःख है अपने विरुद्ध कौशल्या के षड़यन्त्र का, अपने आत्मसम्मान की दारुण क्षति का और पति की दृष्टि में उपेक्षिता हो जाने का, जो नारी जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप है। युग-युगान्तर से जो विष नारी-जाति के सिर पर चढ़ कर बोला है वही राम-वनवास का भी कारण है, उसमें पुत्र की मान-रक्षा जैसा कोई हलका कारण निहित नहीं है।

'मानस' की केकैयी के अंतर्भावों में क्रमशः उतार-चढ़ाव होता है, दो वरदान माँगने की बात भी मंथरा के सुझाने से ही उसके दिमाग़ में आती है, जबकि 'साकेत' की केकैयी पुत्र-स्नेह के आधार पर सब कांड स्वतः ही रच डालती है। 'मानस' की केकैयी की व्यथा भी अधिक गहरी है। एक हद तक वह अपने में ही लीन है बाहर की प्रतिध्वनियाँ उसे प्रतिकम्पित नहीं कर पातीं। हठ ठान कर वह भीतर-ही-भीतर घुट रही है। सौतिया डाह का विष चढ़ गया है और वह उसके नस-नस में पैठ गया है। वास्तविकता का बोध होने पर उसके पश्चात्ताप में भी एक भारी काठिन्य और अवसाद है, जो उसकी अन्तर्वेदना एवं घनीभूत पीड़ा को अधिकाधिक दारुण और विषम बनाकर उसके दर्प को कुचल डालना चाहता है 'गरइ गलानि कुटिल कैकेई, काहि कहै केहि दूषन देई।' 'साकेत' की केकैयी को बातों की राहत है, किन्तु 'मानस' की केकैयी की व्यथा गहरी है और सघन, जो भीतर-ही-भीतर उमड़-घुमड़ कर रह जाती है। भाव स्तब्ध और शब्द मूक होकर उसे भीतर-ही-भीतर कचोटते है-'अवनि जमहि जाचति कैकेई, महि न बीच विधि मीच न देई।'

कहने की आवश्यकता नहीं कि गुप्त जी का मनोवैज्ञानिक आधार

हल्का, साथ ही आधुनिकता के रंग में रँगा है, यों अपने नारी-पात्रों को नए साँचे में ढाल कर उन्होंने उन्हें गतिमय और युगानुरूप चित्रित किया है। कैकेयी की यह उक्ति

'युग-युग तक चलती रहे कठोर कहानी
रघुकुल में भी थी एक अभागिन रानी।'

बहुत मर्मस्पर्शी है। उपेक्षिता उर्मिला का चित्र भी विरहिणी नारी का अत्यन्त सजीव रूप है, जो अबतक कवियों की लेखनी से अछूता ही रह गया था। विरह के प्रसंग में नारी-हृदय की समस्त कोमलता और विह्वलता मूर्त्तिमान् हो उठी हैं। करुणा से अभिभूत उर्मिला प्रोषित-पतिकाओं को निमन्त्रण भेजती है:

'प्रोषित पतिकाएँ हों
जितनी भी सखि उन्हें निमन्त्रण दे आ,
सम-दुःखिनी मिलें तो
दुख बँटे जा, प्रणय पुरस्सर ले आ।'

गुप्त जी ने प्रकृति की सहायता से उर्मिला के विरह-वर्णन में सजीवता भर दी है। विरह में ऐन्द्रिय-पक्ष गौण, मानसिक-पक्ष की प्रमुखता है। विपन्न क्षणों में उर्मिला पुष्पों, लताओं, पशु-पक्षी और अन्यान्य प्राकृतिक उपादानों में एकात्मता का अनुभव करती है। प्रकृत रूपों और व्यापारों के समक्ष जब कभी वह अपनी पृथक् सत्ता की धारणा से छूट कर अपनी चित्तवृत्तियों को उनके भीतर केन्द्रित कर देती है तो उसके व्यक्त प्रेम की फुरहरियाँ छूटकर अनन्त में एकाकार-सी दीखती हैं।

'सखि ! नील नभस्सर से उतरा
यह हंस अहा ! तरता तरता,
अब तारक मौक्तिक शेष नहीं
निकला जिनको चरता चरता।
अपने हिम बिन्दु बचे तब भी
चलता उनको धरता धरता,
गड़ जायँ न कण्टक भूतल के
कर डाल रहा डरता डरता।'

बाह्य-विश्व का संताप विरहिणी के प्राणों को पल-प्रतिक्षण झकझोरता है और वह न जाने कितने ऊहापोहों, पीड़ाओं और मानसिक द्वन्द्वों में अपनी कचोटती वेदना के साथ पीड़ा पर्व पूरे करती है 'लिख लिख काट रही थी हा जलधार।'

'साकेत' का नवम सर्ग उर्मिला के विरह-गीतों से भरा है। कहीं-कहीं उद्गार इतने शृंगारिक और प्राचीन परिपाटी पर साधारण-स्तर के हो गए हैं जो नायिका और प्रसंग की उदात्त भावभूमि के अनुरूप नहीं हैं।

'साकेत' का नामकरण आध्यात्मिक महत्व लिये है, यों भी समस्त कथा-सूत्र साकेत में ही गुँथ गए हैं। काव्य की नायिका उर्मिला का जीवन तो 'साकेत' में सिमटा हुआ है ही, वन में घटित अनेक घटनाएँ भी साकेत में ही उल्लिखित हुई हैं। प्रथम सर्ग में लक्ष्मण-उर्मिला के प्रेमपूर्ण संलाप से बारहवें सर्ग में उनके परस्पर मिलन तक की लम्बी कथा का एक ही स्थल पर सुन्दर समाहार हुआ है। बीच में राज-तिलक, कैकेयी की वरदान-याचना, वन-गमन, दशरथ की मृत्यु, भगवान् राम का चित्रकूट में वास, भरत का अयोध्या-आगमन, राम-भरत मिलन, सीता-हरण, लक्ष्मण-मूर्च्छा, राम-रावण युद्ध की घटनाएँ आदि प्रसंग भी सब वर्णित हैं।

गुप्त जी की भाषा सुसंस्कृत, प्रौढ़ और साहित्यिक होते हुए भी बोधगम्य है। प्रसंगानुकूल अलंकारों, छंदों और रसों का प्रयोग भी हुआ है। आज के युग की नव-जाग्रत चेतना में गुप्त जी ने उपेक्षिता उर्मिला को अपनाकर एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की है।

## कामायनी

प्रसाद की वृहत्तम कृति 'कामायनी' में न केवल कवि की सृजन-सामर्थ्य और जागृत-चेतना के दर्शन होते हैं, वरन् व्यक्त-अव्यक्त मानवीय मूलाधारों की आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक व्याख्या भी मिलती है। देव-सृष्टि के जल-प्लावन के दृश्य से इस काव्य का आरम्भ होता है। जल-प्लावन से बचे हुए आदि-मानव वैवस्वत मनु इस विध्वंसकारी दृश्य के मध्य एकाकी, चिन्तित और निराश बैठे हुए हैं। अतीत वैभव

और सुखों की याद करके उन्हें अनन्त में विषाद की रेखाएँ-सी खिंची दीखती हैं। सृष्टि के दुर्ज्ञेय-प्रसार का अवलोकन करते-करते जब उनका अकिंचन चैतन्य विशृंखल-सा हो रहा है, तभी सहसा उन्हें उषा का नव, कोमल आलोक फूटता नज़र आता है। उनमें आशा का संचार होता है और वे मानस-लोक की उस मधुमती भूमिका में पहुँच जाते हैं जहाँ उन्हें ऐसी विचित्र, लोकोत्तर अनुभूति होती है कि रस तो चहुँ ओर छलक रहा है, ग्राह्य-शक्ति होनी चाहिए। तीव्र विराग से कर्म की रागमयी अनुप्रेरणा का साकार रूप है श्रद्धा, जो उन्हें अचानक मिल जाती है और उनमें आस्था व अनुरक्ति जगाती है:

'कर रही लीलामय आनन्द
महाचिति सजग सी व्यक्त,
विश्व का उन्मीलन अभिराम
इसी से सब होते अनुरक्त।'

मानव-मन जब निराशा और अवसाद के कुहरे में खो जाता है तो उसे कर्म की ओर प्रवृत्त करने की आवश्यकता होती है। श्रद्धा के साहचर्य से मनु के शुष्क जीवन में रस की धारा बहने लगती है। कुछ दिन दोनों सुख पूर्वक रहते हैं, फिर मनु उद्विग्न रहने लगते हैं। मनु श्रद्धा के समस्त सद्भाव और प्रेम पर अपना एक मात्र अधिकार चाहते हैं, यहाँ तक कि उन्हें श्रद्धा के गर्भस्थ शिशु और पालित पशु-पक्षियों से भी चिढ़ हो जाती है। एक दिन वे उसे हिमालय की निर्जन कन्दरा में छोड़ कर चल देते हैं।

सारस्वत प्रदेश में मनु का इड़ा से साक्षात्कार होता है। दोनों एक दूसरे पर आसक्त हो जाते हैं और इड़ा मनु को सारस्वत प्रदेश का शासक बना देती है। किन्तु वे अपने को स्वतन्त्र नियामक मान कर मनमानी करना चाहते हैं। इड़ा 'बुद्धि' का प्रतीक होने के कारण मनु पर नियं-त्रण करती है, लेकिन मनु उसी पर बल-प्रयोग करना चाहते हैं। इससे प्रजा बिगड़ जाती है और मनु पर आक्रमण कर देती है। मनु मूर्च्छित होकर गिर पड़ते हैं।

इधर श्रद्धा स्वप्न में सभी घटित घटनाओं का पूर्वाभास पाकर मनु की खोज में चल पड़ती है और ऐन मौके पर घटना-स्थल पर पहुँच जाती

है। वह अपने कोमल कर-स्पर्श से मनु की पीड़ा हर लेती है। मनु अत्यन्त लज्जित होते हैं और पिछले उन सुखी दिनों की याद करके व्याकुल होते हैं जब श्रद्धा के साहचर्य ने उनमें नवीन स्फूर्त्ति और सजग कर्म-चेतना उत्पन्न कर दी थी। उनका मन ग्लानि से भर जाता है और वे रात्रि में चुपचाप उठ कर चल देते हैं।

श्रद्धा अपने पुत्र 'कुमार' को इड़ा को सौंप मनु को ढूँढती हुई उसी पर्वत-उपत्यका में पहुँच जाती है जहाँ मनु ध्यानमग्न चित्--शक्ति का अन्तर्नाद सुन रहे थे और नटराज शिव का नर्त्तन देख रहे थे। श्रद्धा आगे-आगे उनका हाथ पकड़ कर हिमालय पर चढ़ा ले जाती है और अत्यन्त ऊँचे चढ़ कर इच्छा, कर्म, ज्ञान के समन्वित ज्योतिर्मय त्रिपुर के दर्शन कराती है।

सर्व प्रथम 'इच्छा' के माया-राज्य का दर्शन होता है, जहाँ पर अरुण पराग की पटल छाया में इठलाती और सिहरती कोमल ध्वनियाँ मधुर स्पन्दन-सा भर रही थीं; शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध की पारदर्शिनी सुघड़ पुतलियाँ रंग-विरंगी तितलियों सी थिरकती हुई नर्त्तन कर रही थीं तथा रागारुण उषा के कन्दुक सा आलोक-पिण्ड अपनी दिव्य आभा बिखेरता हुआ चलचित्रात्मक संसृति-छाया के साथ झूल रहा था। कहीं वसंत, कहीं पतझड़, कहीं सुख, कहीं दुःख ऐसे विषम दृश्यों की भरमार थी। वहाँ पर रागारुण चेतन की उपासना में मत्त कुछ मतवाले विहङ्ग से छायामय सुषमा में विचर रहे थे।

इसके पश्चात् धुँधला-धुँधला श्यामल कर्म-लोक दीख पड़ा। वहाँ पर नियति की प्रेरणा से कर्म-चक्र अनवरत घूम रहा था। कहीं क्षण भर भी विश्राम न था। तृष्णाजन्य वासना, ममता, कोलाहल, मानसिक-संघात, एषणाएँ, संघर्ष, विफलता और लालसाओं की लोहित ज्वालाएँ पंचभूत के अणु अणु में समाहित थीं। कर्म के मनोमय राज्य में अन्ध-प्रेरणा से परिचालित समस्त प्राणी क्षणिक भोग-लालसा के लिए मर रहे थे।

किन्तु इसके विपरीत ज्ञान-क्षेत्र में निरन्तर बुद्धि-चक्र घूम रहा था। सुख-दुःख की अनुभूति से परे वहाँ निर्मम न्याय, अनुशासन और अनास्था थी। न्याय, तपस और ऐश्वर्य में पगे प्राणी जीवन-

रस के कण-कण को बटोर लेने के इच्छुक थे। यहाँ ज्ञान की गरिमा थी, पर तृप्ति नहीं; वे अजर-अमर और मोक्ष के साधनों में सदैव सशंकित रहते थे, संतुष्ट नहीं। किन्हीं दूरस्थ, मूल तत्वों का चिंतन करते हुए वे इच्छाओं को झुठलाते और सामंजस्य के बहाने विषमता फैलाते थे।

इसके उपरान्त श्रद्धा इन तीन ज्योतिर्मय-बिन्दुओं की स्थिति का बोध कराती है। ज्ञान दूरस्थ है, क्रियाएँ भिन्न, मन की अभीप्सा पूर्ण नहीं होती—यही जीवन की विडम्बना है।

यह कहते ही श्रद्धा के ओठों पर बिखरी मुस्कान से आलोक-रेखा फूट कर तीनों ज्योतिर्बिन्दुओं को एक में मिलाकर प्रज्ज्वलित कर देती है और चहुँ ओर शृङ्ग और डमरू का निनाद गूँज उठता है। इस दिव्य अनाहत नाद में मनु तन्मय हो जाते हैं।

> 'स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो,
> इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे।
> दिव्य अनाहत पर निनाद में,
> श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।'

अन्तिम सर्ग में इड़ा और कुमार भी प्रजा के साथ मानस-तट पर मनु और श्रद्धा के पास पहुँच जाते हैं और आनन्द-सागर में थाह सी लेते हुए समरस हो जाते हैं :

> 'समरस थे जड़ या चेतन
> सुन्दर साकार बना था;
> चेतनता एक विलसती
> आनन्द अखण्ड घना था।'

'कामायनी' में मनु 'मन', श्रद्धा 'रागात्मिक-वृत्ति' और इड़ा 'बुद्धि' है। मन की गति चंचल है, वह सदैव उद्वेलित होता रहता है। आशा-निराशा, राग-द्वेष, सुख-दुःख आदि भाव उसमें जगते हैं। विश्वास-समन्वित रागात्मिका-वृत्ति से जब तक मन का संयोग नहीं होता तब तक आनन्द-रस की उपलब्धि नहीं होती। बुद्धि मन की अनियंत्रित शक्तियों को अनुशासित करती है, किन्तु बिना संवेदना और कोमलता के वह निरी शुष्क और तर्कमयी है।

इस प्रकार 'कामायनी' में मनु, श्रद्धा, इड़ा इन तीन ऐतिहासिक पात्रों की कथा के साथ-साथ तीन मनों की रूपक-रचना (Allegory) भी प्रस्तुत की गई है। मानव-इतिहास के आदि-पुरुष मनु की अनेक कथाएँ ऋग्वेद, छान्दोग्य-उपनिषद्, शतपथ-ब्राह्मण, पुराण और प्राचीन आर्य-ग्रन्थों आदि में बिखरी पड़ी हैं। कथा के बिखरे सूत्रों को जोड़ने के लिए प्रसाद जी ने कुछ ऐतिहासिक, कुछ प्राचीन आधार और कुछ परम्परागत जन-श्रुतियों का सहारा लेकर अपनी बहुमुखी प्रतिभा और कल्पना के योग से यह अभूतपूर्व काव्यात्मक अनुष्ठान किया।

कवि ने कहीं-कहीं बहुत ऊँची उड़ान भरी है और जीवन और जगत् के परोक्ष-अपरोक्ष रहस्यों का उद्घाटन किया है।

मनु के चरित्र-चित्रण में प्रसाद की भावनाएँ साकार हो उठी हैं, श्रद्धा में नारी-जीवन की समस्त कोमलता, माधुर्य, संवेदना और करुणा व्याप्त है। बिना प्रेम, त्याग और समर्पण के स्त्रीत्व का मंगलमय पूर्णरूप व्यक्त नहीं होता। मानव की कोमल अन्तर्वृत्तियाँ केवल बुद्धि-बल से नियन्त्रित नहीं की जा सकतीं, यही कारण है मनु के उद्विग्न मन को श्रद्धा वश में कर सकी है, इड़ा नहीं। इच्छा, कर्म और ज्ञान के सामंजस्य से आनन्द की उपलब्धि होती है, केवल एकांगी दृष्टि और तर्क-वितर्क विषमता उत्पन्न करते हैं।

महाकाव्य में जिस गांभीर्य, परिष्कृत—अभिरुचि और उदात्त भावनाओं का समावेश होना चाहिए वह 'कामायनी' में सहज रूप में विद्यमान है। प्रसाद जी ने काव्य की विस्तृत पटभूमि पर उस विराट् सधी तूलिका से अपने चित्र आँके हैं जिनके रंग न कभी धुँधले हो सकते हैं और न कभी रेखाएँ ही मिट सकती हैं।

## साकेत-संत

डॉक्टर बलदेव प्रसाद मिश्र का 'साकेत-सन्त' काव्य-ग्रन्थ के रूप में हिन्दी-साहित्य के एक नवीन आवर्त्तन को लेकर प्रकट हुआ, जिसमें प्राचीनता के साथ आज का प्रजातन्त्रवाद, सामन्त-साम्राज्यवाद और समाजवाद आदि का भी सुन्दर समन्वय किया गया। जिस प्रकार

मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' में समयानुकूल और राम-कथा में रूढ़ हुई घटनाओं को किंचित् परिवर्तित करके नूतन रूप दिया था। उसी प्रकार मिश्र जी ने भी गुप्तजी के पद-चिह्नों का अनुसरण करते हुए राम और भरत के प्रसङ्ग को अपनाया। काव्य का प्रथम सर्ग भरत-माण्डवी के प्रेमपूर्ण संलाप से आरम्भ होता है। कहीं-कहीं बात-चीत के सिलसिले में शृंगारिकता का किंचित् पुट आ जाता है, जो भरत की गम्भीर प्रकृति के अनुरूप नहीं।

द्वितीय सर्ग में भरत माण्डवी सहित अपने मामा युधाजित् के साथ केकय-देश की ओर प्रस्थान करते हैं। एक दिन वहाँ प्रकृति के रम्य प्रसार से खिंचे हुए युधाजित् के साथ मृगयार्थ गए। उनके लक्ष्य-भेदी तीर से एक सुन्दर मृग का वध हो गया। मर कर भी उस निरीह भोले पशु की दृष्टि में कुछ ऐसी करुणा और कातरता झलक रही थी कि भरत का हृदय द्रवित हो उठा। युधाजित् ने अवसर पाकर उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया।

> 'संघर्ष जगत् का अथ है
>
> संघर्ष जगत् की इति है
>
> संघर्ष केन्द्र पर निर्भर,
>
> अपनी उन्नति की स्थिति है।'

युधाजित् ने बातों-ही बातों में भरत को जता दिया कि वे ही राज-सिंहासन के उत्तराधिकारी हैं और केकैयी इसी शर्त पर राजा दशरथ से ब्याही गई हैं। उन्होंने मंथरा की ओर भी संकेत किया, जिसे उन्होंने इसी प्रयोजन से केकैयी के पास रख छोड़ा था। भरत सारी बातें सुन कर उद्विग्न हो जाते हैं और उन्हें शंका होती है कि कहीं अयोध्या में कुछ षड्यन्त्र तो नहीं रचा जा रहा। रात्रि में भयंकर दुःस्वप्नों से उनकी चिन्ता और भी बढ़ जाती है और वे नित्य 'छोड़ चलो साकेत' यही सोचते रहते हैं। इसी बीच मुनि वशिष्ठ के भेजे हुए दूत उन्हें लेने के लिए आ पहुँचते हैं और भरत मरुत-वेगसी गति वाले घोड़े पर सवार होकर साकेत-धाम के लिए प्रस्थान करते हैं।

यह यहाँ लिखना अप्रासंगिक न होगा कि जाने या अनजाने में लेखक द्वारा यहाँ कई त्रुटियाँ रह गई हैं और प्रचलित कथा में भी

व्याघात हुआ है। यह सर्वविदित है कि केकय प्रदेश में भरत के साथ माण्डवी नहीं, शत्रुघ्न गए थे। शत्रुघ्न सदैव भरत के साथ रहते थे और फिर राम-वनवास के समय तो वे अयोध्या में थे ही कहाँ? प्रस्तुत काव्य के प्रथम दो सर्गों में शत्रुघ्न का कहीं भी कोई उल्लेख नहीं है। फिर यदि यह मान भी लें कि भरत के साथ माण्डवी केकय-देश गई थी तो वह उनके साथ अयोध्या लौट कैसे आई? भरत तो इतनी शीघ्रता और त्वरा से अयोध्या लौटकर आए थे कि उनके साथ माण्डवी का आना यों भी सम्भव न था। इसके अतिरिक्त भरत का केकय-देश प्रस्थान करते हुए माता-पिता, राम-लक्ष्मण, स्वजन-सम्बन्धी आदि किसी से भी न मिलना अत्यन्त अस्वाभाविक है। मंथरा दासी भी युधाजित् द्वारा तत्काल अयोध्या नहीं पहुँचाई गई थी। वह केकैयी के साथ विवाह में आई थी और भरत की परिचारिका होने के कारण उनके प्रति उसका विशेष ममत्व था।

कवि ने भरत को षड़यन्त्र का पूर्वाभास कराके भी उचित नहीं किया। इससे उनके उदात्त और निर्मल चरित्र पर मैल आता है, जबकि 'रामचरित मानस' में भरत कहते हैं:

'तजि श्रुतिपंथु बाम पथ चलहीं। बंचक बिरचि बेष जगु छलहीं॥
तिन्ह कै गति मोहि शंकर देऊ। जननी जौं यहु जानौं भेऊ॥'

तीसरे सर्ग से कथा सहज गति से चलती है। भरत अयोध्या आकर माता से मिलते हैं और सब घटित घटनाओं को सुनकर क्षोभ और ग्लानि से भर जाते हैं। चौथे सर्ग में भरत के अंतर्द्वन्द्व का मार्मिक विश्लेषण हुआ है। पाँचवें सर्ग में राज-मन्त्रागार में भरत राम के दर्शनों की इच्छा प्रकट करते हैं और मुनि, प्रजा, माताएँ सभी का अनुमोदन प्राप्त करते हैं। इधर केकैयी अत्यन्त दुखी है, उसे व्यर्थ ही इतना कलंक और मानसिक-संक्लेश हुआ। छठे सर्ग में वह मुनि वशिष्ठ के यहाँ जाकर राजा दशरथ को योगबल से पुनरुज्जीवित करने की प्रार्थना करती है और उसमें असफल होकर शव के साथ सती होने को उद्यत होती है।

सातवें सर्ग में दशरथ की अंत्येष्टि-क्रिया सम्पन्न करने के पश्चात् भरत पुरजन-परिजन और सैनिक समुदाय के साथ वन की ओर प्रस्थान करते हैं। मार्ग में अनेक व्यक्तियों को

यह भ्रम होजाता है कि भरत राज्य के लोभ में राम का वध करने जा रहे हैं। अयोध्या के कुछ नागरिक, शृंगवेरपुर के निषाद और भारद्वाज आश्रम के तपस्वी भरत के सद्भाव पर संदेह करते हैं। उक्त तीनों स्थलों में काम, क्रोध और लोभ; रजोगुण, तमोगुण और सतोगुण तथा क्षत्रिय, शूद्र और ब्राह्मण इन तीन शक्तियों का पृथक्-पृथक् भरत को सामना करना पड़ता है। वे सभी सम-विषम परिस्थितियों को चीरते-रौंदते अपने गन्तव्य की ओर बढ़ते रहते हैं और अंत में राम के पास पहुँचकर शांति-लाभ करते हैं।

वन में पहुँचकर भरत राम से सीधे घर लौटने का आग्रह न करके प्रेम और कर्त्तव्य के संघर्षजन्य परिणाम की बात पूछते हैं। राम उन्हें इसी बहाने शासन-व्यवस्था, लोक-सेवा-व्रत और चौदह वर्षों की लम्बी अवधि को शान्तिपूर्वक व्यतीत करने का उपदेश देते हैं।

सभा जुड़ती है और सभी अपना-अपना निर्णय देते हैं। भरत अपने समस्त स्वार्थ-परमार्थ को राम के चरणों में समर्पित करते हुए और उनके अयोध्या लौट आने के आदेश को शिरोधार्य करते हुए चरण-पादुका की याचना करते हैं।

'चरण-पीठ करुणा-निधान के
रहें सदा आँखों के आगे
मैं समझूँगा प्रभु-पद पंकज
ही हैं सिंहासन पर जागे।'

चरण-पादुका प्राप्त करके भरत नन्दिग्राम में आकर साधना-रत हो जाते हैं। उनका रोम-रोम, अणु-अणु राममय है। निरन्तर राम-राम की ध्वनि उनके अंतर्बाह्य को झंकृत करती रहती है। न केवल पादुका-पूजन और आत्म-चिंतनमें ही भरत रत रहते हैं, वरन् शासन-व्यवस्था, प्रजा के सुख दुःख और सामूहिक समुत्थान में भी भाग लेते हैं। नन्दिग्राम के प्रवास में ही उनके द्वारा हनुमान जी को शरविद्ध करने की दुर्घटना भी घटती है, किन्तु उनसे सीताहरण, लक्ष्मण-मूर्च्छा आदि समाचार जानकर वे योग-बल द्वारा राम के पास पहुँचने की बात सोचते हैं। उस अवसर पर वशिष्ठ उन्हें दिव्य दृष्टि प्रदान करके यथार्थ स्थिति का बोध कराते हैं।

अंतिम चौदहवें सर्ग में राम के वन से लौट आने पर भरत उन्हें उनकी धरोहर सौंप देते हैं :

'प्रभु-चरणों में अर्पित कर दी,<br>
ब्याज सहित सारी थाती,<br>
आज भरत की परा शान्ति में,<br>
शांति स्वयं सिमटी जाती ॥'

प्रस्तुत महाकाव्य में भरत के जीवन में भोग-योग का आदि-अवसान देखने में आता है। अन्त में जाकर उनके मन की उद्विग्नता परा-शान्ति और समरसता में परिणत हो जाती है। कहीं-कहीं, किन्हीं स्थलों पर भरत ऐकान्तिक से सामाजिक और प्रेमिक से व्यावहारिक अधिक हो गए हैं। उनमें तुलसीदास के भरत की सी विह्वलता और दैन्य नहीं है 'राम-राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात।'

'साकेत-संत' के चरित्र-चित्रण अथवा पात्र-कल्पना में कोई नवीनता नहीं है, नाटकीय संलाप और उत्तर-प्रत्युत्तर के चमत्कार पूर्ण प्रसंगों की अवतारणा भी बहुत कम हुई है। कथानक के सृजन में मिश्र जी श्री मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' के बहुत ऋणी हैं, उन्हीं की पद्धति और प्रेरणा पर इस काव्य की रचना हुई है। नन्दिग्राम में हनुमान जी द्वारा सीता-हरण, लक्ष्मण-मूर्च्छा आदि का प्रसंग जानकर भरत के वन जाने की तैयारी की दृश्य-योजना जो मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' में की है उसे भी साकेत-संतकार ने ज्यों का त्यों ले लिया है, यों यदि गहराई और बारीकी से सोचा जाय तो इससे भगवान् राम की भरत के लिए चौदह वर्ष की अवधि तक अयोध्या में रहने और शासन-व्यवस्था करने की आज्ञा का उल्लंघन, साथ ही प्रभु के पौरुष में अविश्वास और अनास्था झलकती है।

कल्पना उदात्त न होते हुए भी काव्य की भाषा सहज और हृदय-ग्राहिणी है। महाकाव्य के सर्ग-बन्धादि लक्षणों के निर्वाह के साथ साथ प्रबन्धगत विशेषताओं का समन्वय बहुत सुन्दर और सुरुचिपूर्ण ढंग से हुआ है।

## रामचरित-चिन्तामणि

वाल्मीकि-रामायण के आधार पर पच्चीस सर्गों में राम-कथा को लेकर उक्त महाकाव्य की रचना हुई है। खड़ी बोली के पद्य-विधान पर जो पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का शुभ प्रभाव परिलक्षित था, उसी रूप को सुस्थिर करने का प्रयास रामचरित उपाध्याय ने अपने काव्य में किया। भाषा की स्वच्छता और प्रसाद-गुण पर भी इनका ध्यान केन्द्रित था। उस स्वरूप में न बँध कर जो चिरकाल से काव्य का साध्य था, इनकी भाषा बोल-चाल के चलते रूपों को लेकर चली है। कथा में निगूढ़ विशाल भावनाओं और वर्णन-पाटव की ओर ही इसमें विशेष ध्यान दिया गया; कल्पना की उड़ान, पद-लालित्य भावों की वेगवती व्यंजना और शब्द-प्रयोग के वैचित्र्य में समस्त शक्ति व्यय नहीं की गई।

प्रथम सर्ग से तेईसवें सर्ग तक राम-जन्म, धनुष-यज्ञ, विवाह, वनवास, सीताहरण, युद्ध और राजतिलक आदि की छोटी बड़ी कथाएँ, विशद रूप से वर्णित हैं। कोई कोई स्थल बड़े मर्मस्पर्शी बन पड़े हैं और कथा भी सहज, निर्बाध गति से चलती रहती है। चौबीसवें सर्ग से सीता का परित्याग और लव-कुश की कथा आरंभ होती है। दोनों कथाओं के सूत्र कवि ने इस कौशल से जोड़ दिए हैं कि कथा खंडित नहीं हो पाती।

> 'राज करते थे अवधपुर में अमरपति से सुखी;
> एक नर भी स्वप्न में भी था नहीं कोई दुखी।
> किन्तु दूतों से स्वयं रघुनाथ ने पूछा कभी,
> मम विषय में ज्ञात है, क्या कह रहे हैं जन सभी!'

सीता-परित्याग जैसी दारुण घटना घटने के पश्चात् लव-कुश का जन्म और दोनों बालकों का राम से मिलन आदि का प्रसङ्ग अत्यन्त संक्षेप में वर्णित है। सीता का पुनः राम से साक्षात्कार नहीं होता और न उनके पृथ्वी में समा जाने का ही वर्णन है, किन्तु बीच में विच्छिन्न होकर भी कथा पूर्ण-सी हो गई है।

सम्वादों में स्वाभाविकता और प्रवाह होते हुए भी कहीं-कहीं वे

अनुपयुक्त और असामयिक हो गये हैं। सीता के परित्याग जैसी कारुणिक, विवश स्थिति में राम के ये वचन—

'लक्ष्मण तुम्हें मेरी शपथ है बात खुल जावे नहीं;
जिस भाँति हो कल, गेह से सीता निकल जावे कहीं।
दर्शन तपोवन का उसे भी इष्ट है, इस व्याज से,
उसको निकालो गेह से, मुझको बचाओ लाज से।

विद्रूपवत, निर्मम अट्टहास से करते प्रतीत होते हैं।

इसके अतिरिक्त राम-कथा केन्द्र से निर्झरित होती हुई भावात्मकता और विशाल-भावना भी इन्हें तुलसी की भाँति प्राप्त नहीं है। न 'मानस' का सा हृदय-द्रावक राग है, न तल्लीनता, न भक्ति-रस की अजस्र-धारा प्रवाहित हो रही हैं और न कह उद्देश्य और कला समान स्तर पर ही दिखाई देते हैं। आरम्भ से अन्त तक इतिवृत्तात्मक वर्णन-शैली अपनाई गई है, चरित्र-सृष्टि अमनोवैज्ञानिक और अत्यन्त साधारण है और न काव्य का उदात्त, सुष्ठु रूप ही कहीं प्रकट हुआ है।

## वैदेही वनवास

हिन्दी-साहित्य में काव्य-परम्परा को जीवित रखते हुए श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'प्रिय प्रवास' के पश्चात् 'वैदेही वनवास' की रचना की और प्रबन्ध-काव्य के आदर्श पर चलते हुए राम-कथा में सीता परित्याग की खण्ड-कथा को लेकर करुणा और वियोग की अन्तर्दशाओं का विधान किया। 'वाल्मीकि-रामायण' 'रघुवंश' और भवभूति कृत 'उत्तररामचरित' में करुणा और दुःखवाद को लय करके कथा को मधुमय बनाया गया। 'वैदेही-वनवास' में सुख-दुःख के समान्वित रूप में एक सुन्दर जीवन-मीमांसा प्रस्तुत की गई और उपाध्याय जी ने 'प्रिय-प्रवास' की भाँति ही इसके कथानक में भी पर्याप्त हेर-फेर किया। 'वाल्मीकि रामायण', 'रघुवंश' और 'उत्तररामचरित' में सीता निर्वासन की घटना कुछ ऐसी दारुण बन गई है, जो सज्जनों के हृदय को सदैव कचोटती रही है। लोक-अपवाद के फलस्वरूप जगज्जननी सीता का परित्याग और वह भी उनसे बिना कुछ कहे-सुने तपोवन और तपस्वियों के दर्शन के मिस लक्ष्मण द्वारा अकेले जंगल में छुड़वा

देना कुछ ऐसी निर्मम क्रिया है जो मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम के उदात्त गम्भीर चरित्र के अनुरूप नहीं। लोगों ने इस कृत्य को अमान्य ही नहीं, निंद्य भी ठहराया है। तुलसीदास जी को तो 'राम चरित-मानस' में इस प्रसंग का उल्लेख तक न रुचा। किन्तु 'वैदेही-वनवास' में यह घटना बहुत ही स्वाभाविक हो गई है। अयोध्या के राज-मन्दिर में प्रातःकाल घूमते हुए राम दुर्मुख नामक सेवक द्वारा सीता के सम्बन्ध में फैली लोक-निंदा की बात सुनते हैं। इस अप्रत्याशित चर्चा से एकबारगी धर्म-धुरन्धर राम भी विचलित हो जाते हैं। उनके अन्तर्मानस में भीषण द्वंद्व मचता है, वे भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न आदि अपने भाइयों से सलाह लेते हैं और गुरु वशिष्ट की आज्ञा प्राप्त करके सीता जी को वाल्मीकि-आश्रम में छोड़ने का निश्चय करते हैं। वशिष्ट राम से कहते हैं :

> 'किन्तु आप से यह विशेष अनुरोध है।
> सब बातें कान्ता को बतला दीजिए॥
> स्वयं कहेंगी वह पति प्राणा आप से।
> लोकाराधन में विलम्ब मत कीजिए॥'

'वैदेही-वनवास' में राम ने सीता को पहले ही सब कुछ बताकर उनके मान और गौरव को बढ़ाया है, उन्हें मिथ्या आश्वासन नहीं दिया और न उन्हें बिलखती और प्रसव-पीड़ा में तड़पती हुई अकेले जंगल में ही छोड़ा है, वरन् राजकुल की मर्यादा के अनुरूप वशिष्ट द्वारा एक ऐसी प्रथा का उल्लेख कराया है, जिससे सीता का वन-गमन बहुत ही स्वाभाविक और वांच्छनीय-सा प्रतीत होता है।

> 'आर्य जाति की है चिरकालिक-यह प्रथा।
> गर्भवती प्रिय पत्नी को प्रायः नृपति॥
> कुलपति पावन आश्रम में हैं भेजते।
> हो जिससे सब मंगल, शिशु हो शुद्ध मति॥'

इसके अतिरिक्त 'वैदेही वनवास' में न केवल रजक और पुरवासियों की निन्दा के आधार पर ही सीता का परित्याग किया गया है, प्रत्युत् लवणासुर के द्वेष और गंधर्वों के प्रसंग को लेकर कुछ राजनीतिक

को सब बातें समझा कर उन्हें कुछ समय के लिये स्थानान्तरित करने का प्रस्ताव सामने रखते हैं।

'इच्छा है कुछ काल के लिए तुमको स्थानान्तरित करूँ।
इस प्रकार उपजा प्रतीति में प्रजा पुंज की भ्रान्ति हरूँ॥
क्यों दूसरे पिसें, संकट में पड़, बहु दुख भोगते रहें।
क्यों न लोकहित के निमित्त जो सह पायें हम स्वयं सहें'॥

अयोध्या से वन के लिए मंगल-यात्रा का दृश्य भी बड़ा ही शानदार और कारुणिक है। नगर की शोभा और सीता-राम की मधुर छवि मानों सदैव के लिये अन्तरपट पर अंकित हो जाती है, किन्तु आज के बौद्धिक-युग के प्रभाव के कारण सीता-राम की विरह-वेदना और विवश भाव बहुत हलका चित्रित किया गया है। उसमें हृदय को द्रवित कर देने वाली कोमलता और करुणा नहीं है। राम तो कर्त्तव्याभिमुख और सुस्थिर-चित्त हैं ही, सीता भी आज की संघर्ष-प्रिय नारी की भाँति सजग और क्रियाशील हैं। पति, देवर, सास और भगिनियों से विदा लेते हुए वे स्वयं सबको ढाढ़स देती हैं।

'मत रोना भूल न जाना।
कुल-मंगल सदा मनाना॥
कर पूत साधना अनुदिन।
वसुधा पर सुधा बहाना॥'

वन में सीता से विदा होते हुए जब लक्ष्मण अत्यन्त विह्वल हो उठते हैं तो वे अविचलित रह कर उन्हें कर्त्तव्य-पथ की ओर उत्प्रेरित करती हैं:—

'सर्वोत्तम साधन है उर में।
भव-हित पूत भाव का भरना॥
स्वाभाविक-सुख लिप्साओं को।
विश्व प्रेम में परिणत करना॥'

प्रकृति-चित्रण द्वारा भी यत्र-तत्र विरह-वेदना की व्यंजना हुई है। किन्तु वह हृदय को छूने वाला न होकर जीवन की अनेकरूपता में अधिक खो गया है। श्याम-घटा को देख कर राम के शरीर की

कान्ति स्मृति रूप में विषाद बन जाती है और सभी सुखद वस्तुएँ विरूप होकर उनकी आँखों में खटकती हैं।

'दिवि-दिव्यता अदिव्य बनी, अब नहीं दिग्वधू हँसती थी।
निशा-सुन्दरी की सुन्दरता अब न दृगों में बसती थी॥
कभी घन-पटल के घेरे में झलक कलाधर जाता था।
कभी चन्द्रिका वदन दिखाती कभी तिमिर घिर आता था॥'

शान्ति-निकेतन के पुष्पों की छटा उनमें रागात्मक-भावना जगाती है।

'शान्ति-निकेतन के सुन्दर उद्यान में।
जनकनन्दिनी सुतों सहित थी घूमती॥
उन्हें दिखाती थी कुसुमावलि की छटा।
बार बार उनके मुख को थी चूमती॥'

'वैदेही-वनवास' में गाँधीवाद का भी स्पष्ट प्रभाव है। भगवान् राम शान्ति और अहिंसा के ज़बर्दस्त समर्थक हैं, उन्हें दमन-नीति अभीष्ट नहीं है:

'दमन है मुझे कदापि न इष्ट।
क्योंकि वह है भयमूलक नीति॥
चाह है लाभ करूँ, कर त्याग।
प्रजा की सच्ची प्रीति-प्रतीति॥'

रावण को एक सिर का ही बताया गया है 'एक वदन होते भी जो दश वदन था।' वर्त्तमान् सभ्यता की जटिलताओं ने मनुष्य की जिज्ञासा-वृत्ति को तीव्र कर दिया है, प्रस्तुत काव्य-ग्रन्थ में राम-सीता विषयक लोकोत्तर कथानक होते हुए भी जिज्ञासा-वृत्ति की तृप्ति का व्यापक-क्षेत्र मिल जाता है। अंत दुःखमय है, तो भी आनन्द में बाधक नहीं होता। सुख-दुःख से परे आत्म-भाव की परिधि इतनी व्यापक होगई है तथा 'मैं' और 'तुम' से अतीत प्रणय का भाव इतना गहरा और उच्च भाव-भूमि पर स्थित है कि दुःखवाद का भौतिक आधार नष्ट हो जाता है।

'ज्यों ही पति प्राणा ने पति -पद्-पद्म का।
स्पर्श किया निर्जीव मूर्त्ति सी बन गई॥
और हुए अतिरेक चित्त-उल्लास का।
दिव्य-ज्योति में परिणत वे पल में हुईं॥'

स्वार्थ-त्याग मन की वह मुक्त क्रिया है जो आत्मा का विस्तार करती है। सीता के उदात्त, पावन चरित्र का आलोक आज भी दिग्-दिगन्त में प्रोद्भासित है—यही इस काव्य का निष्कर्ष है।

प्रस्तुत काव्य की भाषा सरल और स्वाभाविक होते हुए भी अनेक स्थलों पर संस्कृतमयी है। करुण-रस और विरह-वेदना का प्राधान्य है, किन्तु दाम्पत्य-प्रेम का उल्लसित भाव है। प्रेम की अनन्यता, परोपकार और कर्त्तव्य की दृढ़ता सर्वत्र विद्यमान है। खण्ड काव्य होते हुए भी यह ग्रन्थ महाकाव्य की सी गरिमा और उदात्तता लिए है।

## सिद्धार्थ

श्री अनुप शर्मा कृत महाकाव्य 'सिद्धार्थ' में भगवान् बुद्ध का लोक-पावन चरित्र विशद रूप में वर्णित है। जन्म से लेकर निर्वाण तक का सारा आख्यान आ गया है साथ ही तत्कालीन परिस्थितियों, प्रसंगों और वातावरण का भी सम्यक्रूपेण चित्रण हुआ है। कथा इस प्रकार चलती है।

प्रथम सर्ग में कपिलवस्तु नगरी, वहाँ की श्री-समृद्धि और राजा शुद्धोदन का गुण-वर्णन है। समस्त सुख-शान्ति और अक्षय वैभव होते हुए भी राज-परिवार में कोई सन्तति नहीं, जिससे राजा-प्रजा दोनों चिन्तित हैं। एक दिन रात्रि में राजा-रानी को स्वप्न होता है और गिरि-कन्दराओं से बुद्धावतार की उद्घोषणा होती है।

दूसरे और तीसरे सर्ग में महारानी माया के गर्भस्थ शिशु का प्रताप, भगवान् बुद्ध का जन्म, ज्योतिषियों द्वारा नवजात बालक की प्रशंसा, बाल-लीलाओं का वर्णन, यज्ञोपवीत उत्सव, शिक्षा दीक्षा और मृगया आदि का वर्णन है।

चतुर्थ सर्ग से ही राजकुमार सिद्धार्थ में उस वैराग्य-भावना के अंकुर प्रस्फुटित होते दीख पड़ते हैं जो उन्हें सुख-दुःखात्मक अनुभूति

से परे क्रमशः कल्याण-मार्ग और निर्विशेष आनन्द-धाम तक पहुंचा-कर समरस बना देते हैं। एक दिन प्रभात-वेला में सिद्धार्थ अपने साथियों सहित मृगया के लिए वन में प्रस्थान करते हैं, किन्तु अपने साथी के बाण से आहत हंस की दुर्दशा देख कर उन्हें मर्मांतक पीड़ा होती है। सुख-वैभव में पले राजकुमार ने कभी दुःख की छाया भी न देखी थी। बाहर निकल कर उन्हें चहुं-ओर विषाद ही विषाद बिखरा दीख पड़ा। कहीं वृद्ध कृषक बैल को पीटता हुआ ले जा रहा था, कहीं पक्षी अन्य छोटे जीवों का भक्षण कर रहे थे, कहीं रुदन था और कहीं उत्पीड़न। इस प्रकार समस्त विश्व उन्हें त्रि-ताप से पीड़ित दीख पड़ा। तत्क्षण अंतर्ज्ञान जाग्रत हुआ, सुप्त-चेतना सजग हो उठी, मानस-तिमिर में ज्योति-स्फुलिंग विकीर्ण हो गए और उनकी समाधि लग गई।

'दोनों लोचन मध्य दृष्टि अचला, पद्मासनस्था दशा,
नासा के स्वर-साम्य से सहज ही आधार दे प्राण को,
अंतर्भूत प्रभूत ज्योति विभु की साकार हो आ गई,
शून्याम्भोधि-निमग्न बुद्ध जग को सद्धर्म संबोध दे।'

पंचम सर्ग में कुमार सिद्धार्थ के विराग को जान कर राजा शुद्धोदन को चिंता होती है। वे वसंतोत्सव की तैयारी करते हैं और समस्त सुन्दरी नागरिक-कन्याओं को आमंत्रित करके राजकुमार के आमोद-प्रमोद की व्यवस्था करते हैं। यशोधरा के सौन्दर्य पर कुमार आसक्त हो जाते हैं।

छठे सर्ग में यशोधरा के पिता सुप्रबुद्ध स्वयम्वर में शस्त्र-स्पर्द्धा का आयोजन करते हैं, जिसमें सिद्धार्थ विजयी होते हैं। सिद्धार्थ और यशोधरा का पाणि-ग्रहण-संस्कार धूम-धाम से सम्पन्न हो जाता है। सातवें और आठवें सर्ग में नव-दम्पति की विविध केलि-क्रीड़ा, आमोद-प्रमोद, नृत्य-संगीत-वाद्य और वन-उपवन-वाटिका जैसे मनो-रम स्थलों में विहार-विचरण आदि वर्णित है। श्रावण वर्षा आदि ऋतुओं का वैभव और प्रकृति-सौन्दर्य दम्पत्ति के चित्त को कुछ दिन लुब्ध किए रहता है, किन्तु एक दिन मध्याह्न में अलस भाव से लेटे हुए कुमार सहसा चौंक कर उठ बैठते हैं। उनके मुख पर वही दिव्य

हुआ ही चाहता है। सिद्धार्थ पुलकित और चौंककर छन्दक से इसका कारण पूछते हैं और जीवन की नश्वरता से विचलित हो उठते हैं। कुछ दूर चलकर उन्हें जलता हुआ शव और रुदन करते नर-नारी दीख पड़ते हैं। उनमें घोर विरक्ति जगती है और बारहवें सर्ग में माता-पिता, प्रिय पत्नी, गर्भस्थ बालक, राजपाट और समस्त सांसारिक बन्धन विच्छिन्न करके वे महापथ की ओर अग्रसर होते हैं।

'दिगन्त काँपे, हिल वायु भी उठा
खगोल डोला, दहली वसुन्धरा,
उठा जभी पाँव शाक्याभिनाथ का
प्रगाढ़ निद्रा सब में समा गई।'

तेरहवें सर्ग में सिद्धार्थ के वियोग में राजा, प्रजा और यशोधरा की दीन-दशा वर्णित हैं। चौदहवें सर्ग में कुमार का भिक्षु-वेषमें अनेक स्थलों में भ्रमण, सेनाग्राम के निकट कठोर तपश्चर्या, कठिन उपवास, सुजाता से भेंट और अन्त में बोधिद्रुम की ओर प्रयाण, जहां उन्हें दिव्य-ज्ञान की प्राप्ति होती है। पन्द्रहवें सर्ग में भगवान् बुद्ध को आत्म-प्रेरणा होती है और वे काशी, ऋषिपत्तन, मृगदाव, और विभिन्न आश्रमों में घूम-घूम कर अपने धर्म का प्रचार करते हैं। एक दीन, निराश्रिता विधवा का मृत-पुत्र भी भगवान् के चरणों पर गिरते ही पुनरुज्जीवित हो जाता है। राजा बिम्बसार के नगर में पहुँच कर तथागत ने यज्ञ में पशु-बलि आदि का निषेध करके अहिंसा का भी प्रचार किया। सोलहवें सर्ग में यशोधरा का करुण विलाप और हंस द्वारा पति को सन्देश भेजने का वर्णन है। अन्तिम दो सर्गों में भगवान् का कपिल वस्तु में आगमन, पिता, पत्नी एवं नगर-वासियों से मिलन और उनके दिव्य अन्तर्ज्ञान से प्रभावित होकर उन्हीं का अनुयायी हो जाना. भगवान् का अन्तिम उपदेश देकर कपिलवस्तु से प्रस्थान, पैंतीस वर्ष तक इतस्ततः पर्यटन, पुनः कुशिग्राम में प्रवेश और अन्त में महासम्बोधि की दीप्ति बिखेरते हुए महानिर्वाण आदि प्रमुख प्रसंगों के बाद इस महाकाव्य का उपसंहार हो जाता है।

'कर स्वप्राण निमज्जित जीव में,
निलय जीव किया निज रूप में,

उदधि-आप्प-समान खगोल में
प्रभु सदेह तिरोहित हो चले।'

उक्त महाकाव्य इतिवृत्तात्मक होते हुए भी बड़ो ही रंजनकारी कल्पना और गूढ़-व्यंजना से युक्त है। भगवान् बुद्ध के रूप में मनुष्य की आत्मा का चरम विकास दिखलाया गया है, जहाँ बाह्य और अन्तरंग चेतना एकाकार हो जाती है और जीवन की ज्वलन्त जाग्रत परिधि से परे किसी अरूप-रूप की सत्ता स्थापित हो जाती है। राजा शुद्धोदन यशोधरा, छन्दक आदि के चरित्र बहुत ही उत्कृष्ट बन पड़े हैं, कहीं-कहीं हृदयोद्गारों की व्यंजना इतनी मर्मस्पर्शी और करुणा का उद्रेक करने वाली है कि पाठक भावों के प्रवाह में बहने लगता है। नवीनता का समावेश होने पर भी प्राचीन परम्परा, संस्कृति और वातावरण की उपेक्षा नहीं की गई।

संस्कृत वर्ण-वृत्तों में 'प्रिय-प्रवास' की पद्धति पर प्रस्तुत महाकाव्य की रचना हुई है, किन्तु भाषा में वह सरसता नहीं है जो 'प्रिय-प्रवास' की विशेषता है। भाषा कई स्थलों पर दुर्बोध और दार्शनिक-गांभीर्य से समाच्छन्न है।

## आर्यावर्त्त

श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी' ने विश्वासघाती जयचंद द्वारा उसकी अपनी जघन्य प्रतिहिंसा की पूर्ति के लिए मोहम्मद गोरी का साथ देकर पराक्रमी पृथ्वीराज को पराजित करना और इस प्रकार चिरकाल के लिए आर्य-भूमि को परतन्त्रता की शृंखला में आबद्ध कर देने आदि की प्रसिद्ध ऐतिहासिक दुर्घटना को 'पृथ्वीराज रासो' के कथानक के आधार पर उक्त महाकाव्य में उल्लिखित किया है। गोरी का आक्रमण और पृथ्वी राज की हार न केवल दो राजाओं की जय-पराजय का प्रश्न है, प्रत्युत दो देशों, दो प्रमुख जातियों और दो विभिन्न संस्कृतियों के ध्वंस-निर्माण की करुण गाथा है। आर्यावर्त्त और आर्य-वीरों के देश-प्रेम एवं राष्ट्रीय भावनाओं की ध्वस्त नींव पर उस समय विधर्मियों के राज्य वैभव का प्रासाद खड़ा किया गया था, जिसके फलस्वरूप न जाने कितने लज्जाजनक दृश्यों को आवृत्त और अनावृत्त किया गया था। तत्कालीन लोगों की राग-द्वेष-पूर्ण भावनाओं का यह

दुर्द्धर्ष चित्र, जो हमारे सामने उपस्थित हो जाता है, एक ओर आर्य-वीरों की हीन-भावना का द्योतक है, दूसरी ओर उनके शौर्य और उज्ज्वल चरित्र का परिचायक है।

प्रथम सर्ग में ही हमें कवि चंद और राणा समरसी जैसे दो योद्धाओं का दर्शन होता है, जो रण से हताश और खिन्न महाकाली के जीर्ण मन्दिर में लौट कर विजय का वरदान चाहते हैं। वह रात बड़ी ही भयावह और कष्टप्रद है। इसी निस्तब्ध, निर्मम रात्रि में पृथ्वी राज और गोरी के भाग्य का निपटारा हुआ था। पृथ्वीराज पराजित होकर बन्दी बना लिए गए थे और आर्य-भूमि का सौभाग्य-सिन्दूर सदैव के लिए पुँछ चुका था।

प्रथम सर्ग के पश्चात् अवशिष्ट बारह सर्गों में कथा क्रमशः विकसित होती चलती है। सिंह के समान लौह-श्रृंखलाओं में बद्ध वीर पृथ्वीराज की आँखें फोड़ दी जाती हैं। उधर पृथ्वीराज के समकालीन सखा और सामन्त महाकवि चन्द, जो इस प्रबन्ध-काव्य के नायक हैं, पृथ्वीराज को ढूढ़ने के लिए युद्ध-भूमि का चक्कर काटते हैं, किन्तु वहाँ के वीभत्स और हृदय-द्रावक दृश्यों को देख कर उनके श्रांत-क्लांत मन में ज्वाला-सी धधक उठती है। वे अपने पुत्र जल्ह को महाकाव्य का शेषांश पूर्ण करने का आदेश देकर स्वयं महानाश का खेल खुल कर खेलने के लिए तत्पर हो जाते हैं। महारानी संयोगिता पति की पराजय के समाचार से विचलित नहीं होती, वरन् क्रुद्ध सिंहनी-सी सजग होकर सभी को युद्ध के लिए ललकारती है। तत्क्षण वह अपने पिता जयचन्द को पत्र लिखती है और उसके दुष्कृत्य के लिए उसे धिक्कारती है—

'देश द्रोहियों को अधिकार है न जीने का,
इनसे घिनाता है मरण भी इसीलिए
अब तक घृणित शरीर यह आपका,
जीवित है, जीवित पिशाचवत खेद है।'

कवि चन्द महारानी का पत्र लेकर जयचन्द के पास जाते हैं, वहीं उन्हें पृथ्वीराज के जीवित रहने और उनकी आँखें फोड़ दी जाने का समाचार प्राप्त होता है। हर्ष-शोक का भाव लिए वे दिल्ली लौट आते हैं और युद्ध के लिए प्रस्थान करते हैं।

भयंकर युद्ध होता है। आर्य-वीर शत्रुओं की सेना से डट कर लोहा लेते हैं और उन्हें परास्त कर देते हैं। पश्चात्ताप में गलता हुआ जयचन्द समर-भूमि में वाण खाकर धराशायी हो जाता है और छट-पटाता हुआ प्राण छोड़ देता है। कवि चन्द मौन, निस्तब्ध से घूमते हुए घटना-चक्र को देखते हैं, किन्तु पृथ्वीराज के न मिलने से उन्हें कुछ भी अच्छा नहीं लगता, उनका अणु-अणु पीड़ा से कराहता रहता है। अर्द्ध-रात्रि में दीपक के धुँधले प्रकाश में जब कवि चन्द व्याकुल, विवश और हतचेत से बैठे थे तो अकस्मात् उन्हें देवी अम्बिका की प्रेरणा से एक मार्ग सूझ पड़ता है।

कवि चन्द शाह फकीर के वेष में गोरी को अपने वश में कर लेते हैं और इस प्रकार वन्दी पृथ्वीराज से भीषण कुम्भीपाक कारागार में मिलते हैं। पृथ्वीराज को सभी भावी व्यवस्था से अवगत कराके शाह फकीर गोरी को पृथ्वीराज से मन-मन भर के सात लोहे के तवे एक शब्दवेधी तीर से तोड़ने की विद्या सीखने का आदेश देते हैं। गोरी बड़ा खुश होता है और बड़े समारोह के साथ पृथ्वीराज को दरबार में आमंत्रित करता है। तवों पर हलकी चोट की गूँज के शब्द से पृथ्वीराज एक वाण से सातों तवे तड़ातड़ तोड़ देते हैं और जैसे ही सुलतान गोरी के मुँह से 'वाह-वाह' के शब्द निकलते हैं वे ध्वनि का अनुसरण करते हुए दूसरे वाण से उसका प्राणान्त कर देते हैं। सारे दरबार में खलबल मच जाती है, लोग भयभीत होकर इधर-उधर भागते हैं और सेना छिन्न-भिन्न हो जाती है। कवि चन्द दो तलवार निकालते हैं और एक तलवार पृथ्वीराज को दे देते हैं। दोनों परस्पर कट कर आर्य-भूमि की रक्षा और आर्य-वीरों के धर्म के पालन में अपने प्राण विसर्जित कर देते हैं। जल्ह द्वारा उसी समय अन्तिम पंक्ति लिखी जाती है।

उक्त महाकाव्य में सर्वत्र वीर-रस की प्रधानता है, यों अन्य रस भी न्यूनाधिक रूप में समाविष्ट हुए हैं। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से महा काव्य का महाकाव्यत्व और भी वृद्धि पर है। वीरोचित क्रिया-कलाप और उदात्त चरित्र-चित्रण कवि की प्रतिभा के परिचायक हैं, साथ ही सजीव वार्तालाप नाटकीय तत्वों को विकसित करता चलता है। नारी-

चरित्र भी इतने उत्कृष्ट बन पड़े हैं जो भारतीय ललनाओं के अनुरूप और उन्हें कर्त्तव्य-पथ निश्चित करने में एक नवीन प्रेरणा प्रदान करते हैं। युद्ध में पृथ्वीराज के पराजय और उनकी अनिश्चित मृत्यु का सम्वाद पाकर महारानी संयोगिता अपने अनुपम साहस और धैर्य का परिचय देती हुई निम्न उद्गार व्यक्त करती है जो आर्य रक्त की महानता के द्योतक हैं।

'आज पतिहीना हुई शोक नहीं इसका
अक्षय सुहाग हुआ, मेरे आर्य पुत्र तो
अजर अमर हैं, सुयश के शरीर में।
कायरों की मृत्यु साँस साँस पर होती है
काँपता है मरण पराक्रमी की छाया से।'

कवि चंद, राणा समरसी, महाराज पृथ्वीराज, पराक्रमी और योद्धा कन्हदेव आदि सभी वीरता के प्रतीक और चिर समर-विजयी हैं, यहाँ तक कि देश-द्रोही जयचन्द का दूषित चरित्र भी पश्चात्ताप की आँच में तचकर निखर गया है। अनेक स्थलों पर उसके हृदय मंथन का बहुत ही मर्मस्पर्शी विश्लेषण हुआ है।

'जानता हूँ कल इतिहास लिखा जायगा
जब आर्य-भूमि का, तो मेरे इस कृत्य का
वर्णन रहेगा वहाँ और उसे पढ़ के
युग-युग पाठक घृणा से धिक्कारेंगे।'

## हल्दीघाटी

सत्रह सर्गों का उक्त महाकाव्य महाराणा प्रताप के शौर्य, पराक्रम, स्वातन्त्र्य-प्रेम और साथ ही राजपूत-वीरों के दर्प और गौरव-भावना से भरा है। हल्दीघाटी की रक्त-रंजित मेदिनी, जहाँ अगणित भारतीय-वीरों के शोणित-कण धूलिसात हैं, आज भी दर्शकों के हृदयान्तराल में नूतन उन्माद जगाती है। हल्दीघाटी का समरांगण भारतीय-स्वतन्त्रता की तीर्थ भूमि है और उसकी करुण-गाथा वीरों के हृदय में उल्लास और अतीत स्मृति-चिह्नों को जाग्रत करती रही है।

भारत के इतिहास में यह वह समय था जब कि अकबर की धर्म-सम्बन्धी कूटनीति का चक्र सारे राजपूत-वीरों के सिरों पर घूम चुका था और उसकी चपेट में बड़े-बड़े वीर स्वाभिमानी हो मुगल सम्राट् के चरणों में गिर चुके थे। केवल महाराणा प्रताप ही एक ऐसा सुदृढ़ सेनानी था जो सबके विरुद्ध मस्तक ऊँचा किए खड़ा था और जिसका हृदय गर्व और देश-प्रेम से उफना पड़ रहा था। अकबर उसके इस दम्भ को चूर-चूर कर देना चाहता था। वह उसे धूल में मिलाकर उसके गर्वोन्नत भाल पर पदाघात करना चाहता था। महाराणा के अन्य प्रतिद्वन्द्वी राजा भी उसे पराजित देखना चाहते थे। महाराणा का भाई शक्तसिंह क्षुब्ध हो कर शत्रुओं से जा मिला था। राजा मानसिंह, जिसके साथ महाराणा ने खाने से इन्कार कर दिया था, अपनी अवज्ञा से तिलमिला कर उस पर गहरी चोट करना चाहता था। फलस्वरूप दोनों ओर युद्ध की तैयारियाँ होने लगीं। विशाल मुगल-सेना को लेकर मानसिंह ने खमनौर से थोड़ी दूर रक्ततलैया के समीप शाहीबाग़ में पड़ाव डाल दिया। इधर महाराणा प्रताप भी हल्दीघाटी के निकट ही उपत्यका में बाईस सहस्र राजपूत-वीरों के साथ छिपे हुए युद्ध का सुअवसर ढूँढ रहे थे। एक दिन पर्वतों और जंगलों के मनोरम दृश्यों को देखते हुए मानसिंह भीलों द्वारा घेर लिया गया और वे उसे मारने को उद्यत हो गए। किन्तु राणा न जाने कहाँ से आ पहुँचे और उन्होंने उसके बन्धन खोल कर भीलों को धिक्कारा :

'मेवाड़ देश के भीलों,
यह मानव-धर्म नहीं है।
जननी-सपूत, रण-कोविद,
योधा का कर्म नहीं है॥

अरि को भी धोखा देना,
शूरों की रीति नहीं है।
छल से उनको वश करना,
यह मेरी नीति नहीं है॥

श्रावण मास में हल्दीघाटी का घमासान युद्ध आरम्भ हुआ।

मानसिंह हाथी पर और महाराणा अपने प्रिय घोड़े चेतक पर चढ़ कर युद्ध का संचालन कर रहे थे। तलवारों की चकाचौंध और वीरों की लाशों से सारी भूमि पटी थी। खून की नदियाँ बह रही थीं। शत्रु-सेना आग बरसाने वाली तोपों से अग्नि वर्षा कर रही थी, किन्तु राजपूत वीरों ने धधकती प्रचण्ड अग्नि के मुँह में घुसकर तोपों के मुखों को विपरीत दिशा में मोड़ दिया। महाराणा ने मानसिंह पर आक्रमण किया, किन्तु वह कौशल से बच कर भाग निकला। शत्रु-सेना ने राणा को चारों ओर से घेर लिया, वे अपने घोड़े पर सवार अपनी सेना के व्यूह से बहुत दूर थे। काटते-काटते राणा के हाथ थक गए थे, चेतक शिथिल हो गया था और मेवाड़ का सूर्य अस्त हुआ ही चाहता था। किन्तु वीर झालामान्ना घोड़ा दौड़ाते हुए वहाँ पहुँच गए और उन्होंने झपटकर महाराणा का मुकुट अपने सिर पर रख लिया, विजय पताका बरबस हाथों से छीन ली, शत्रुओं ने उन्हें महाराणा समझ कर मार डाला। महाराणा को चेतक ले दौड़ा और तब तक दौड़ता रहा, जब तक कि उसके शरीर में चेतना का एक भी स्फुलिंग अवशेष था। फिर शरीर शिथिल हो कर पृथ्वी पर गिर पड़ा और चेतक ने दम तोड़ दिया। महाराणा का देशद्रोही भाई शक्तसिंह वीरता के इस रोमांचकारी दृश्य को दूर से देख रहा था। वह विच-लित होकर भाई के चरणों पर आ गिरा और दोनों भाइयों ने गले मिल कर अपने अंतर में घुमड़ती व्यथा को शान्त किया। चौदहवें सर्ग तक हल्दीघाटी की लड़ाई का यही करुण-दृश्य अंकित है।

पन्द्रहवें सर्ग में महाराणा प्रताप का दर-दर भटकना, राज-परिवार की दुर्दशा और अनेक आपत्ति-विपत्तियों का वर्णन है। कई दिन तक भूखे रहकर महाराणा को सपरिवार जंगलों की खाक छाननी पड़ती है। राजमहिषी और महाराणा की अबोध कन्या, जिनपर कभी स्वप्न में भी दुःख की छाया न पड़ी थी, भूख से तड़पते हैं। कष्टों की पराकाष्ठा हो जाती है, यहाँ तक कि एक दिन बालिका के हाथ से बिलाव घास की रोटी छीन ले जाता है। अपनी प्रिय पुत्री के रुदन और अश्रुओं से महाराणा का धैर्य विचलित हो जाता है। वे सन्धि-पत्र लिखने बैठ जाते हैं, किन्तु महारानी आकर हाथ रोक देती है। क्या इतनी तपस्याओं और कष्टों का यही उपसंहार, यही परिणाम वांच्छनीय होता ? नहीं, ऐसा विधाता को मंजूर न था।

सोलहवें और सत्रहवें सर्ग में भामाशाह की सहायता और अन-दान से महाराणा पुनः अपनी सेना संगठित करते हैं और पहले देवीर, फिर कुम्भलगढ़ पर आक्रमण करके विजय प्राप्त करते हैं। मेवाड़ स्वाधीन होजाता है।

'मेवाड़ हँसा, फिर राणा ने
जय-ध्वजा किले पर फहराई।
माँ धूल पोंछकर राणा की—
आमोद फूल-सी मुसकाई ।।'

इस प्रकार प्रस्तुत महाकाव्य बड़ी ही ओजस्विनी और स्फूर्त भाषा में लिखा हुआ है। राजपूत-सैनिकों की बहादुरी और महाराणा का मूर्तिमान् शौर्य आर्य-रक्त की महानता का द्योतक है। जहाँ राष्ट्र की सुरक्षा और कर्तव्य-पालन का प्रश्न है वहाँ वैयक्तिक सुख-सुविधाओं की चाह गौण हो जाती है। महाराणा का ओजस्वी रूप आज भी शिथिल प्राणों में नवीन चेतना और उत्साह भर देता है।

काव्य के प्रारम्भ में कवि ने महाराणा का ऐसा जीता-जागता चित्र खींचा है, जो न केवल अतीत की महानता का द्योतक है, अपितु भविष्य के लिए भी उसमें जीवनमय ज्वलंत संदेश छिपा है। 'हल्दी घाटी' के लेखक श्यामनारायण पाण्डेय ने महाराणा प्रताप की टीस, वेदना और निर्भीक आत्मा की पुकार को अनुभव किया है और अनुपम शक्ति से प्रस्तुत महाकाव्य में उभार कर दर्शाया है। यहाँ वर्णित *ऐतिहासिक कथानक, चरित्र-चित्रण, संलाप और छोटे-छोटे दृश्य* कवि की जागरूक चेतना और कभी न बुझ सकने वाली अग्नि से धधक रहे हैं, जो आज भी मानवीय प्रच्छन्न-शक्तियों को उद्बुद्ध करते हैं।

## नूरजहाँ

'नूरजहाँ' महाकाव्य का मुख्य आधार जहाँगीर-नूरजहाँ की प्रसिद्ध ऐतिहासिक प्रेम-कथा है। एक अत्यन्त छोटी-सी प्रणय-घटना ने उनके जीवन में जो उथल-पुथल और क्रान्ति सी मचा दी थी, वही उनके जीवन की विकास-दिशा और आकर्षण का प्रमुख केन्द्र बन गई थी। प्रेम का न ओर-छोर कहीं है, न उसकी जिज्ञासा की कहीं तृप्ति। एक

दिन दूर देश से आई उस भोली बालिका मेहरुन्निसा ने शाहज़ादा सलीम के अन्तर को झकझोर दिया था। शाही-उद्यान में वे दोनों खेल रहे थे। उसके निरीह सौन्दर्य और अल्हड़पन में कुछ ऐसी मादकता थी जो मन को मुग्ध किये बिना नहीं रहती थी। खेलते-खेलते शाहज़ादा सलीम को पुष्प-कलियाँ तोड़ने की प्रेरणा हुई। तभी दो नए कबूतर उसके हाथ लगे थे, उन्हें मेहर के कोमल करों में सौंपते हुए उसने कहा, 'देखो, ज़रा सँभालो, कहीं उड़ न जायँ।' जैसे ही सलीम उधर मुड़ा कि एक कबूतर सम्भ्रम में उसके हाथ से छूट कर उड़ गया। इतने में सलीम ने लौटकर—

'एक कबूतर देख हाथ में पूछा कहाँ अपर है?<br>
उसने कहा अपर कैसा? वह उड़ गया स-पर है।<br>
उत्तेजित हो पूछा उसने, उड़ा! अरे वह कैसे?<br>
'फड़' से उड़ा दूसरा बोली, उड़ा देखिये ऐसे।'

बस, उस समय की उसकी यही भोली भावभंगी ही सलीम के अन्तर-पट पर सदैव के लिए अंकित हो गई और वह मन-प्राण उस पर न्यौछावर कर बैठा। किन्तु ज़मीला की कुटिल और द्वेषमयी प्रवृत्ति ने इस सुखान्त नाटक पर पर्दा डाल दिया। द्वेष और प्रतिकार-भावना से प्रेरित होकर उसने मेहर-सलीम को पृथक् करने का षडयन्त्र रचा। ज़मीला के भड़काने से अकबर ने मेहर का विवाह शेर अफ़ग़ान से कर दिया और दोनों को दूर भेज दिया। सलीम को यह वियोग किसी प्रकार भी सह्य न हुआ। सूनी, निःस्तब्ध रात्रि में वह छद्म वेष में मेहरुन्निसा के शयनागार में घुस गया और शेर अफ़ग़ान को मार कर कहीं अन्यत्र भाग जाने का प्रस्ताव अपनी प्रेमिका के सम्मुख रखा। मेहर की तो इसी बीच जैसे काया पलट हो गई थी। कर्त्तव्य-वेदी पर उसने अपने प्रेम को ही नहीं वरन् अपनी समस्त आकांक्षाओं, उल्लास और आनन्द को भी न्यौछावर कर दिया था। वह किंचित् भी विचलित नहीं हुई और उसने शाहज़ादा सलीम के प्रेम को ही नहीं ठुकराया, वरन् उसकी कड़ी भर्त्सना भी की।

किन्तु सलीम के दिल का घाव कभी न भरा। उस में छटपटाहट और तड़पन बनी ही रही। सम्राट् होते ही उसने शेर अफ़ग़ान का

वध करा दिया और मेहर को दिल्ली बुला भेजा। चार वर्षों तक मेहर के मन में द्वन्द्व मचता रहा। प्रेम और कर्त्तव्य में कशमकश सी रही, किन्तु अन्त में वही हुआ जो होना था, जो विधि का विधान बन चुका था। जहाँगीर और नूरजहाँ की प्रणय-कथा आज भी इतिहास के पृष्ठों में रंगीन पेंसिल से अंकित है। इतिहास का विद्यार्थी भले ही नूरजहाँ को मुगल सम्राट् जहाँगीर की अधीश्वरी और सुशासिका के रूप में जानता हो, किन्तु उसके मानसिक-संघात और द्वन्द्वात्मक जीवन का परिचय बहुत कम लोगों को विदित है। बालिका रूप में जो आकर्षण उसने अनुभव किया होगा वह सम्भव है दाम्पत्य-जीवन में सघन होकर दुर्विज्ञेय हो गया हो। यह भी सम्भव है कि वह अपने वैवाहिक-जीवन में उन भग्न सपनों को पुनः साकार देखना चाहती हो जो नियति के क्रूर थपेड़ों से असमय में ही छिन्न-भिन्न हो गये थे। शेर अफ़गान जैसे क्रूर और रूखे पति के प्यार की प्रत्याशा करना जीवन के उन एकाकी, द्वन्द्वात्मक अनुभवों को संजीवन और गति देना रहा होगा, जो दुर्भाग्य के अंधड़ में इतस्ततः छितराकर बिखर गये थे। रागात्मक-भाव, सामंजस्य के अभाव में, जब विशृंखल हो जाते हैं तो व्यष्टि को समष्टि में और स्वात्म को अखिलता में परिणत कर देते हैं।

विवाह के पश्चात् सुन्दरी मेहर के भीतर भी कुछ ऐसी ही आंतरिक समग्रता उत्पन्न हो जाती है। अपने पति के प्रति उसमें वही अपनत्व और एकात्म-भाव है जो अविश्वस्त नहीं कहा जा सकता और न मिथ्या आश्वासन ही।

'दूर नगर से नदी-कूल पर पर्ण कुटी हम छायेंगे।
चिड़ियों के स्वतन्त्र कलरव में गला फाड़कर गायेंगे॥

... ... ... ...

जो मलयानिल मुश्किल से जाने पाता महलों भीतर।
उसी पवन संग वन-उपवन में मैं अब विहरूँगी सानन्द,।
दूषित वातावरण बीच यों मैं अब नहीं रहूँगी बन्द॥'

विवाह होते ही द्वन्द्व आरम्भ हो जाता है और दाम्पत्य-जीवन की अवधि में तथा उसके समाप्त होने के पश्चात् भी चार वर्षों तक मेहर के प्राणों में उथल-पुथल और हलचल-सी होती रहती है। प्रेमी

का दुराग्रह पुनः उन प्रसुप्त मधुर भावों को जगाता है जो शाश्वत् से होगए थे। उसके समग्र जीवन में प्रेम एक ओर है और कर्त्तव्य दूसरी ओर। नूरजहाँ का मन कभी इधर झुकता है और कभी उधर, एकबार उसके मन में पति से सम्बन्ध-विच्छेद करने की बात भी उठती है, किन्तु वह क्षणिक दुर्बलता है। वह पतिव्रता नारी-सी कठोर कर्त्तव्य को अंत तक निबाहती है। पति की मृत्यु के पश्चात् भी उसका संकल्प शिथिल नहीं होता। वह उसी की स्मृति को लेकर जीवित रहना चाहती है, वरन् इस मोड़ पर आकर तो उसका अन्तर्द्वन्द्व और भी तीव्र हो जाता है। जिसे वह प्रेम करती है उसी से उदासीन! जहाँ उसका मन खिंचता है वहीं से नाता तोड़कर उपेक्षित रहना! कैसी घोर विडम्बना है। अन्त में अकस्मात् उसकी धारणा बदलती है वह भी प्रेमी के आग्रह से और तब जबकि उसका हठीला मन विद्रोह करते-करते श्रांत हो जाता है।

नूरजहाँ के सजीव जीवन-नाटक को उतारने में लेखक गुरुभक्तसिंह को मानसिक वृत्तियों के सूक्ष्म विश्लेषण और विचार प्रक्रिया के ऊहापोह भरे स्पष्ट चित्र अंकित करने पड़े हैं। जहांगीर प्रेमी है, किन्तु ऐसा प्रेमी नहीं जो प्रेम के नाम पर तड़प-तड़प कर मर मिटे। उसे स्थूल आधार चाहिए। प्रेम उसे उद्यम-शक्ति और कर्म-चेतना भी प्रदान करता है। अनारकली के प्रेम-प्रसंग में वही बात देखने को मिलती है। वह अपने प्रयत्न में हताश न होकर उसे किसी न किसी प्रकार ढूँढ लेता है और मरते दम तक साथ नहीं छोड़ता। मेहर के प्रति जब उसका आकर्षण और मन खिंचता है तो भी वह किसी की पर्वाह नहीं करता। शेर अफगन से विवाह होने के पश्चात् वह बिना भय और आशंका के मेहर के महलों में घुस जाता है और सम्राट् होने पर तो अपनी प्रेमिका तक की अप्रसन्नता पर ध्यान न देकर उसके पति को कत्ल करा देता है। मेहर की उदासीनता और उपेक्षा से भी वह हताश नहीं होता, आखिर उसके विद्रोही मन को परास्त करने में वह सफल हो ही जाता है।

नसीमा इस काव्य में अत्यन्त कुटिल और नीच नारी है। वह विलासिता का विष बोने में सदैव सतर्क है और मिथ्या प्रेम की भित्ति पर दूसरों के जीवन को बर्बाद कर देने में अत्यन्त निर्भीक। प्रारम्भ

में वह चन्द्रावली के प्रेम को गौरव दिलाती बनती है और बाद में मेहर के प्रणय-रहस्यों को मृत्यु से मुक्त देती है। उसका सम्पूर्ण जीवन दुःख और संघर्षों से भरा है। चन्द्रावली का प्रेम-प्रसंग हृदय-स्पर्शी है, किन्तु अस्वाभाविक सा होगया है। प्रस्तुत चरित्रों के अतिरिक्त दूर तक चलने वाले साधारण चरित्र भी सुन्दर बन पड़े हैं।

पुस्तक में प्रकृति मनुष्यों की कहानी के लिए सुन्दर वातावरण बन गई है। प्रकृति और मानव-जीवन में गहरा सामंजस्य है। मनुष्य दुःखी है तो प्रकृति भी उदास और विषादमयी होने लगती है। उनके मनोभाव परोक्ष-अपरोक्ष रूप में प्रकृति के स्पन्दनों में यत्र-तत्र मुखरित हो उठे हैं। कहीं फूल हँस रहे हैं, कहीं भौंरे उन पर मधुर गुंजन कर रहे हैं, कहीं पक्षी वृक्षों पर अठखेलियाँ करते हुए चहक रहे हैं और कहीं सुगन्धित भीनी हवा मदमस्त बनाती हुई मन को झकझोर जाती है।

गुरुभक्तसिंह ने भाषा को सुधारने से ढाला है, पर कहीं-कहीं फारसी, अरबी शब्दों के प्रयोग खटकते हैं।

## कुरुक्षेत्र

श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' का 'कुरुक्षेत्र' महाभारत के युधिष्ठिर-भीष्म संवाद को लेकर लिखा हुआ ऐतिहासिक काव्य-ग्रन्थ है, जिसमें मानवता के रक्त-रंजित इतिहास पर दृष्टिपात करते हुए युद्ध की समस्या का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। लेखक के शब्दों में 'युद्ध एक निन्दित और क्रूर कर्म है; किन्तु इसका दायित्व किस पर होना चाहिए? उसपर, जो अनीतियों का जाल बिछाकर प्रतिकार को आमन्त्रण देता है? या उसपर, जो इस जाल को छिन्न-भिन्न कर देने के लिए आतुर है।' ये ही दो महत्त्वपूर्ण चिरन्तन प्रश्न हैं जो प्रत्येक राष्ट्र और मानवता के सम्मुख मूर्त हो उठते हैं।

प्रायः प्रत्येक युद्ध में शुरु होने के पूर्व परस्पर विरोधी वृत्तियों में संघर्ष हुआ करता है, कशमकश भी होती है :

'हर युद्ध के पहले द्विधा लड़ती उबलते क्रोध से,

. . . . . . . . . . .

हर युद्ध के पहले मनुज है सोचता, क्या शस्त्र ही—
उपचार एक अमोघ है,
अन्याय का, अपकर्ष का, विष का, गरलमय द्रोह का।'

मनुष्य लड़ना नहीं चाहता, वह मूलतः शांति, सद्भाव और समता का इच्छुक है, किन्तु उसमें मनोद्वन्द्व और राग, द्वेष, घृणा, ईर्ष्या, अभिमान आदि दुर्वृत्तियाँ, विद्रोहाग्नि और प्रतिशोध की भावना जगाती हैं।

'विश्व-मानव के हृदय निर्द्वेष में,
मूल हो सकता नहीं द्वेषाग्नि का;
चाहता लड़ना नहीं समुदाय है,
फैलती लपटें विषैली, व्यक्तियों की साँस से।'

आखिर विध्वंस से लाभ क्या है? मनुष्य मनुष्य को भक्ष्य बना कर, उसका उष्ण रक्त पीकर किस चिर-पिपासा को शान्त करना चाहता है? किस आनन्द के शीतल रस से आप्लावित होकर जी की जलन मिटाना चाहता है?

कुरुक्षेत्र के भीषण रक्तपात और हृदय-विदारक दृश्यों को देखकर युधिष्ठिर के मन में भी यही एक प्रश्न बार-बार गूंजता है:

'किन्तु, इस विध्वंस के उपरांत भी
शेष क्या है! व्यंग ही तो भाग्य का?'

ऊहापोह और शंकाकुल मनःस्थिति में युधिष्ठिर भीष्म के पास जाते हैं और अहिंसा का प्रतिनिधित्व करते हुए युद्ध के विरुद्ध मनोबल और आत्मिक-शक्तियों का पक्ष लेते हैं।

'जानता कहीं जो परिणाम महाभारत का
तन बल छोड़ मैं मनोबल से लड़ता,
तप से, सहिष्णुता से त्याग से सुयोधन को
जीत नई नींव इतिहास की मैं धरता,
और कहीं वज्र गलता न मेरी आह से जो,
मेरे तप से नहीं सुयोधन सुधरता,
तो भी हाय, यह रक्तपात नहीं करता मैं,
भाइयों के संग कहीं भीख माँग मरता।'

'कुरुक्षेत्र' को पढ़ते हुए हमें यह न विस्मृत कर देना चाहिए कि वह आज के युग की सृष्टि होते हुए भी महाभारत-कालीन युद्ध की धारणाओं को लेकर लिखी गई है। भीष्म के युद्ध-सम्बन्धी निष्कर्ष आज के युद्ध की समस्याओं का समाधान नहीं, वरन् उस युग के हिंसात्मक साधनों के अनुभवसिद्ध तथ्य हैं। उन दिनों सामाजिक-समता, सद्भावना और अन्याय के विरुद्ध न्यायोचित व्यवस्था के के लिए युद्ध हुआ करते थे, यों स्वार्थ-लोलुपता, कुटिल द्रोहाग्नि, प्रतिशोध-भावना और भीतर ही भीतर घुमड़ता ज़हर भी इसका कारण होता होगा। उन दिनों युद्ध की अनिवार्यता बहुत कुछ प्रारब्ध और अज्ञात-सत्ता के हाथों में ही थी। विध्वंसक और नीति-विरुद्ध जानते हुए भी विवश होकर समरांगण में कूदना ही पड़ता था। सामूहिक प्रतिशोध उन दिनों पापपूर्ण नहीं समझा जाता था। वह पाप-पुण्य की परिधि से परे था।

भीष्म ने अपने कथन में प्रायः इन्हीं उपर्युक्त मतवादों की पुष्टि की है। उन्होंने युद्ध की तुलना उस तूफ़ान से की है जो प्रकृति के विस्फोटक तत्वों को समेटे हुए प्रचंड वेग से आ धमकता है और प्रकृति की विकृतियों एवं जराजीर्ण वस्तुओं को अपने साथ उड़ा ले जाता है। ऐसे तूफ़ान से उन वृक्षों को किंचित् भी हानि नहीं होती जो सशक्त और सुस्थिर हैं। जैसे तूफ़ान अनिवार्य और प्राकृतिक है, उसी प्रकार युद्ध का उत्तरदायित्व भी किसी एक व्यक्ति अथवा राष्ट्र पर नहीं, वरन् वह सामूहिक विस्फोट है। यह किसी के रोके नहीं रुक सकता।

भीष्म के मत से तप, त्याग, विनम्रता, अनुराग, दया, क्षमा मानवीय गुण होते हुए भी सामाजिक जीवन के अनुपयुक्त हैं। जब तक असत् पक्ष का प्राधान्य होगा तब तक युद्ध अवश्यम्भावी है, यह होगा ही। लेखक ने आधुनिक साम्यवादी दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किया है :

'जब तक मनुज-मनुज का यह,
सुख भाग नहीं सम होगा।
शमित न होगा कोलाहल,
संघर्ष नहीं कम होगा।

सातवें सर्ग में जीवन-दृष्टि को लेकर समता-विधायक ज्ञान और मानव-धर्म की व्याख्या की गई है। मनुष्य सदैव मनुष्य पर अविश्वास ही करता रहा है। आज तक वह कभी द्रोह-द्वेष से मुक्त न हो सका। करोड़ों मनुष्य आयु-पर्यन्त मानव का कल्याणकारी रूप खोजते रहे हैं, किन्तु किसी को मनुष्यता के लिए निराश होने की आवश्यकता नहीं है। मनुष्यता का नव-विकास सदैव होता आया है। हमें निष्क्रिय नहीं सक्रिय होना चाहिए। युद्ध-शमन का समाधान है—दुष्प्रवृत्तियों का दमन और सद्-प्रवृत्तियों का उद्रेक।

'रण रोकना है तो उखाड़ विषदन्त फेंको,
वृक व्याघ्र भीति से मही को मुक्त कर दो।'

एक दूसरा समाधान भी कवि ने प्रस्तुत किया है—

'अथवा अजा के छागलों को भी बनाओ व्याघ्र,
दाँतों में कराल काल कूट-विष भर दो।'

कवि के मत से युद्ध, हिंसा और विनाश हेय है, वह मनुष्यता के ह्रास और पतन का सूचक है, किन्तु साथ ही वे आततायी और जन-शोषक भी असह्य हैं जो दूसरों की सुख-शांति का अपहरण करते हैं। कवि ने इन्हीं दोनों पक्षों का ज़ोरदार समर्थन किया है। यह आश्चर्य है कि समयुगीन होकर भी कवि ने महात्मा गाँधी की अहिंसा और असहयोग की नीति की उपेक्षा क्यों की है। न तो आधुनिक दृष्टि से युद्ध-सम्बन्धी समाधान प्रस्तुत किए गए हैं और न महाभारत के भीष्म-युधिष्ठिर संवाद को सुदृढ़ पौराणिक आधार-भूमि ही मिली है। दोनों की अधर में लटके हुए की सी डाँवाडोल स्थिति है।

इन सब असंगतियों के बावजूद भी यह काव्य-ग्रन्थ अपनी स्वगत विशेषताओं के कारण हिन्दी-साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसका आख्यान प्राचीन और ऐतिहासिक तत्वों से पूर्ण है। अपने युग की राजनीतिक परिस्थितियों और विचारधारा को प्रस्तुत करते हुए इसमें आज के मतवादों की भी सुन्दर विवेचना हुई है। युद्ध का विषय नीरस है, किन्तु इसी शुष्क और नीरस विषय को रुचिकर और जीवन-तत्वों से समन्वित कर दिया गया है। काव्य की भाषा

भी अत्यन्त ओजपूर्ण और प्रवाहमयी है। न तो कल्पना की कोरी उड़ानें भरी गई हैं और न कृत्रिमता का सहारा लेकर पाठकों को वास्तविक तथ्य से ही दूर रखने की चेष्टा की गई है। विषय की गहनता, निरीक्षण की सूक्ष्मता और वर्णन की स्पष्टता से भी अधिक स्वाभाविकता और सरसता सराहनीय है, जो मानवीय मनोवेगों को उद्वेलित करती हुई पाठकों पर अपना स्थायी प्रभाव छोड़ जाती है।

## मेधावी

हिन्दी के प्रगतिशील लेखक डॉक्टर रांगेय राघव का 'मेधावी' कुछ नई परम्पराओं को लेकर चला है। लेखक के शब्दों में, "प्रस्तुत काव्य इतिहास की तरह बद्ध नहीं है। अनुभूति और विचार के कारण कहीं-कहीं इतिहास की तिथियों का ध्यान नहीं रखा गया, क्योंकि तिथियों का महत्त्व भी स्वयं अनुभूति में है, इस प्रकार का काव्य लिखने समय मात्र।

एक नायिका—एक नायक के चरित्र में इतना रूप समाना असम्भव है। इस काव्य के नायक और नायिका इतिहास और गति हैं, और मेधावी के द्वारा वे प्रकट हुए हैं।"

ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है कि मेधावी ही प्रस्तुत काव्य-ग्रन्थ का एक मात्र नायक है, जिसका चैतन्य-ज्ञान अणु-अणु में बिखरा है। युग-युगान्त से मानव की तृष्णा समय के स्तर को भेद कर निर्मम अट्टहास सा कर रही है। न जाने कितने अरमान, वासनाएँ, उन्माद, जन्म, मृत्यु और अपराजित जीवन-शक्तियाँ युग-युग की निर्बाध गति में समाहित हो गई हैं। इतिहास परिवर्तनशील है और मानव समय की गति के साथ सापेक्ष रूप में बद्ध है। उसके ध्येय का ओर-छोर अनंत है। मेधावी उद्भ्रांत और चिंतित बैठा हुआ अनंत संसार को आँखें फाड़े देख रहा है। सूर्य, चन्द्र, तारे, नक्षत्र सभी महानृत्य में संलग्न हैं। निस्सीम नभ में ज्ञान विहग कल्पना के पंखों पर उड़कर थाह पाने में असमर्थ है। रवि-शशि और तारे उसकी निस्सीमता में बिन्दुवत् हैं। ग्रह-उपग्रह सभी अविश्रांत गति से चल रहे हैं, किन्तु उनका आदि और अंत अज्ञात ही है। मनुष्य का अहंकार शिरा शिरा में निनादित हो रहा है, किन्तु तो भी मनुष्य को शांति और तृप्ति नहीं है।

द्वितीय सर्ग में मेधावी अगणित नक्षत्रों और सौर-चक्र के अविरत नर्त्तन को देख कर चकित हो जाता है :—

'तारों का प्रिय सुन्दर नर्त्तन
गति का नर्त्तन
नूपुर छुन छुन
कितना विराट् है शून्य खिला
जिसमें हम अणु मकरंद अमल
परिवर्त्तन के झोंकों से उड़
दिशि-दिशि में फैले हैं खिल-खिल।'

तीसरे और चौथे सर्ग में मेधावी को संपूर्ण सृष्टि महा-नृत्य में संलग्न दीख पड़ती है। पृथ्वी और आकाश का अगम्य विस्तार उसके दृष्टि-पथ के सम्मुख आ कर बिछ जाता है। पाँचवें सर्ग में मेधावी को नभ-मंडल में सौर-चक्र बनते दीख पड़ते हैं मानों महाशून्य में ग्रह-उपग्रहों का भीषण द्वन्द्व मचा हुआ है। उसे लगता है जैसे विराट् का अणु-अणु चैतन्य हो उठा है और पृथ्वी सूर्य को देख कर मुस्करा रही है।

छठे सर्ग में मेधावी को पृथ्वी पर प्राण-चिह्न स्पंदित हुए दीखते हैं और अमित शक्ति शत शत धाराओं में उच्छल हुई जान पड़ती है। यों मानव-शक्ति सदैव प्रकृति से संघर्ष करती रही है, तो भी मेधावी विस्मय-विमुग्ध हो देखता है कि मनुष्य का इतिहास कितना अल्प है, कितना नगण्य। मानव कितना लघु है—अथाह समुद्र में केवल बिन्दु-वत्, किन्तु तो भी मानव होनेके नाते उसमें अपने प्रति प्यार जगता है। वह आदिम मानव से शनैः-शनैः उन्नति की ओर अग्रसर होता है, उसका ज्ञान क्रमशः विकसित होता है। संघर्ष करता हुआ वह आगे बढ़ता जाता है। वह उस राह का पथिक है जहाँ कोई व्यवधान नहीं, जहाँ ईश्वर और प्रारब्ध नहीं। जो कल सत्य था वह आज भी सत्य है, स्वर्ग के सपने में भूल कर प्रगति को अवरुद्ध करना है।

नवें सर्ग में मेधावी को आकाश में उषा फूटती नज़र आती है। सहसा उसकी आँखों में सिहरन सी भर जाती है और वह आनन्द विभोर हो उठता है :

'व्याकुल नयनों की कारा में
यह हरित श्याम क्यों जाग उठी ?'

पृथ्वी के रंग-मंच पर इसे रोते और हँसते मानव दृष्टिगत होते हैं। कभी प्राणों की नीरवता प्रकृति में लय हो कर आँसू बहाती है और कभी अविराम रूप की मादकता में विभोर हो चंचल हो उठती है। हेमन्त, शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद सभी महाप्रकृति में समरूप हैं, किन्तु अकस्मात् मेधावी का यह स्वप्न भंग हो जाता है और वास्तविकता उसकी आँखों में नाच उठती है :—

'ओ मूर्त्तिमान प्रश्नोत्तर तू
अपनी सत्ता का लिख दे रख
चल उठा समय के बीच आज
इतिहास पृष्ठ में उलट चला
रे मेधा का रोही अबाध
मैं अपनेपन को खोज चला।'

इतिहास के पृष्ठ उलटते चलते हैं और युग-युग की ऐतिहासिक घटनाएँ एक-एक कर के उसकी आँखों के समक्ष बिछ जाती हैं। आदिम जातियाँ द्रविड़, कोल, मंगोल, प्राचीन भाषा, संस्कृति और कला सभी कुछ कल्पना में सजग हो उठती हैं। सोचते-सोचते मेधावी श्रांत हो जाता है, तब समय में से प्रतिध्वनि उठती है :—

'कौन हो तुम उन्मत्त विभोर
दुखी होकर करते संघर्ष
युगांतर से पथ पर चल किंतु
रुद्ध हो जाता विमल अमर्ष ?'

'अरे मैं हूँ मानव, अभिराम
चला था स्वप्नों का ले भार
किंतु अब देख रहा हूँ श्रांत
नहीं मिलता मुझको सुखसार।'

अंतिम चौदहवें सर्ग में मेधावी न्याय और अन्याय के घोर संघर्ष को देख कर मुसकरा उठता है। मजदूर, निम्न-मध्य-वर्ग, कवि, दार्शनिक, वैज्ञानिक सभी अपनी-अपनी धुन में लीन हैं और फासिस्ट-

वाद, साम्राज्यवाद, साम्यवाद, प्रगतिवाद तथा भिन्न-भिन्न मत-मतांतरों का बोलबाला है। काव्य के अंत में कवि उन्मुक्त और सुखमय जीवन की कामना करता है।

'एक घर सी होगी यह भूमि
और भौतिक के दुख का चूर
बनायेंगे मानव वह पंथ
जहाँ शोषण का रहे न नाम
जहाँ का सत्य वास्तविक सत्य
जहाँ स्वातन्त्र्य साम्य सुख शांति
करेंगे निशि दिन नृत्य
और परिवर्त्तन-पथ पर सतत
ज्ञान का पकड़े हाथ
चलेंगे जगमग मुक्त ......।'

प्रस्तुत महाकाव्य में अनूठी कल्पना और विषयों की अनेकरूपता के साथ-साथ उनके विधान का ढंग भी निराला है। कवि प्रगतिशील है और उसने पुरातन बन्धनों को विच्छिन्न करके नवीन काव्य-पद्धति अपनाई है। अभिव्यंजना की प्रगल्भता और भावनाओं की ऐसी सुकुमार योजना मिलती है कि पाठक विस्मय-विमुग्ध हो वर्णन-वैचित्र्य में खो जाता है। दर्शन, भूगोल, इतिहास, काव्य, समाजशास्त्र आदि सबका इसमें समाहार हो जाता है, अतएव विषय-प्रसार व्यापक है। लेखक ने लिखा है:

"मैंने किसी अंत को ध्येय या लक्ष्य साबित नहीं किया—जीवन की गति ने अपने आपको निष्कर्ष प्रतिध्वनित किए हैं।"

कुणाल

प्रस्तुत खण्ड-काव्य का उद्देश्य सुप्रसिद्ध सम्राट् अशोक के पुत्र कुणाल का महान चरित्र अंकित करना है। साम्राज्ञी तिष्यरक्षिता की ईर्ष्या [illegible] हुई ऐसी मग्न होकर इतिहास के पृष्ठों में समा गई है जिसका महत्व लुप्त हो जाना असम्भव ही है। प्रथम तीन सर्गों के आरम्भ में राजधानी पाटलिपुत्र का वैभव, कुणाल का जन्म, बाल-क्रीड़ा और उसके सौन्दर्य की लावण्यमयी छवि वर्णित है। राजकुमार

अत्यन्त सौम्य और सुन्दर है। उसका अंग-प्रत्यंग सुडौल और कान्ति-मय है, किन्तु सबसे शोभन और चित्तापहारी उसके विशाल नेत्र हैं जो बरबस सबका ध्यान आकर्षित कर लेते हैं।

'था सभी शोभन मनोरम
किन्तु लोचन पद्म
थे बड़े ही हृदय-स्पर्शी
स्वर्ग-सुख के सद्म।'

चौथे सर्ग में कलिंग देश को जीतने के उपलक्ष्य में एक वृहद् उत्सव मनाया जा रहा है। प्रशस्त ललाट, विशाल-नेत्र, आजानु-बाहु और हवा में थिरकते उत्तरीय एवं चकाचौंध करते आभूषणों और वस्त्रों से सुसज्जित सम्राट् अशोक इस प्रकार सिंहासनारूढ़ हैं मानों मौर्य-वंश का सौभाग्य-सूर्य अपने समस्त वैभव और कान्ति को बिखेरता हुआ विराजमान हो। चहुँ ओर आनन्द और उल्लास की लहर सी दौड़ी पड़ रही है। सभी आनन्द मग्न हैं और नृत्य, गायन आदि तरह-तरह के अभिनय दिखाए जा रहे हैं। मन्त्री, सभासद, प्रजा और समस्त रनिवास भी उपस्थित हैं। सहसा युवराज कुणाल नाट्य-मंच पर कामदेवका वेष बनाए और हाथोंमें पुष्पचाप लिए प्रविष्ट होता है। उस समय की उसकी मधुर भाव-भंगी पर रानी तिष्यरक्षिता मुग्ध हो जाती है। गवाक्ष में से झाँकते हुए उसके नेत्र सजल से उठते हैं। हृदय विचलित हो जाता है और प्राणों में सिहरन सी भर जाती है।

महलों में लौटने पर कुछ देर रानी अर्द्ध मूर्छित सी पड़ी रहती है। पाँचवें सर्ग में रानी का अंतर्मंथन बड़ी मार्मिकता से चित्रित किया गया है। प्रेम का ऊहापोह बड़ा ही स्वाभाविक है, किन्तु माता का पुत्र के प्रति गंदी वासना का उद्रेक कुछ ऐसा घृणित और जघन्य अपराध है, जिसका मार्जन नहीं किया जा सकता। लेखक ने जितनी ही सरलता और निर्विकार भाव से रानी के उफनते कुत्सित प्रणय का प्राबल्य दिखलाया है, उतनी ही तीव्रता से पाठकों के हृदय में विद्रोह और घृणा का भाव जाग्रत होता है। छठे सर्ग में प्रणय-निवेदन का प्रसंग है। रानी जब इठलाती, मचलती और अपनी कंचन सी देह

को नाना आभूषणों और सुन्दर वस्त्रों से आवृत्त करके युवराज कुणाल से प्रणय की भीख माँगती है तो स्वयं लज्जा भी लजा जाती है। राजकुमार का उत्तर कितना स्वभाविक है, साथ ही कितना सामयिक और संक्षिप्त।

'मर्माहत से थे अब कुणाल।
श्रद्धानत प्रणत घने अस्थिर॥
"आर्ये! तुम हो जननी मेरी।
सोचो तो क्या, कहती हो फिर?

कैसे यह साहस हुआ तुम्हें।
माता! अब राजभवन जाओ॥
कुछ पूजन-यजन करो जिससे।
हलचल में परम शांति पाओ॥'

मर्माहत और चोट खाई हुई सर्पिणी-सी रानी भीतर ही भीतर विष उगलती है। अपमान की आँच से उसका अंतर धधकता है और वह प्रतिशोध के लिए सजग और सचेष्ट हो उठती है। सम्राट् अशोक से सप्ताह भर के लिए वह शासन-भार अपने हाथों में ले लेती है। राजा-रानी का मान-मनौवल का दृश्य केकैयी-दशरथ प्रसंगसे प्रेरित है, उसमें किंचित् नई उद्भावना कर दी जाती तो वह शायद अधिक स्वाभाविक और हृदयस्पर्शी बन पड़ता।

वासना-मिश्रित प्रतिशोध की लपटें क्रमशः अधिक उग्र हो उठती हैं:

'मैं इस छल का बदला लूँगी।
प्रतिहिंसा बनकर धधकूँगी॥

रानी छद्म रूप से एक पत्र लिखती है जिसमें तक्षशिला स्थित अमात्य को कुणाल की आँखें निकाल कर पत्नी सहित निर्वासित करने का आदेश है। नवम सर्ग में चर के मन का द्वन्द्व चित्रित किया गया है, किन्तु यह समझ में नहीं आता कि दन्त-मुद्रा से मुद्रित और बन्द पत्र को चर ने कैसे खोलकर पढ़ा होगा अथवा षड्यन्त्र की जानकारी प्राप्त करने के बाद भी वह अमात्य और राजकुमार के समक्ष

मूक क्यों बना रहा. अच्छा होता यदि उसे ऐसे ही अनजान रहने दिया जाता।

दशम सर्ग में कुणाल और उनकी पत्नी कांचन का निर्वासन पढ़ कर राम-सीता-लक्ष्मण का वन-गमन याद आ जाता है राजकुमार कुणाल चलते हुए अपनी बीन ले लेते हैं और वन-उपवन, पर्वत-प्रदेश और बीहड़ स्थानों में पथगीत गाते हुए आगे बढ़ते रहते हैं। छोटे-छोटे गीत जीवन की निस्सारता और समय-परिवर्त्तन का करुण-संदेश दे जाते हैं। अंतिम चार सर्गों में राजकुमार का प्रत्यागमन सम्राट् अशोक से भेंट, पश्चात्ताप, रानी को दंडाज्ञा, किन्तु कुणाल के आग्रह से क्षमादान और फिर कुणाल के राज्याभिषेक के पश्चात् सम्राट का काषाय वस्त्र धारण कर के राजधानी से प्रस्थान आदि का प्रसंग है' जिसके साथ ही साथ काव्य का उपसंहार हो जाता है।

कथानक की दृष्टि से घटनाओं का संयोजन सुन्दर हुआ है, किन्तु कहीं-कहीं केन्द्रस्थ विषयों की गति विशृंखल-सी लगती है। चरित्र चित्रण की दृष्टि से रानी तिष्यरक्षिता और कुणाल के चरित्र सुन्दर उतरे हैं। रूप-गर्विता, उच्छृंखल, प्रसाधन की पुजारिणी, अतृप्त वासनाओं की समष्टि और अपनी शत-शत कुत्सित मनोवृत्तियों से घिरी नारी कितनी खूँख्वार और भयावह हो जाती है इसका बारीकी से अंकन हुआ है। कुणाल का चरित्र असाधारण दृढ़ता, धैर्य और सहन शक्ति का परिचय है जो गारिमामय और उदात्त होकर उसकी गम्भीर प्रकृति के अनुरूप ही है। किन्तु सम्राट् अशोक जैसे दुर्द्धर्ष नरेश को इतना अकर्मण्य, समस्त कार्य-व्यापारों से अनभिज्ञ और स्त्रैण चित्रित करना ठीक नहीं। दूसरे सर्ग के पश्चात् कुणाल की अपनी माता का भी कहीं उल्लेख नहीं है। राजकुमार की आँखें निकालने, पत्नी सहित निर्वासित होने और राजा-प्रजा के बिना किसी विरोध-विग्रह के वन-वन भटकना आदि घटनाएँ कुछ ऐसी ऐकान्तिक हो गई हैं जो अस्वाभाविक लगती हैं।

श्री सोहनलाल द्विवेदी ने प्राचीन सामंतकालीन रुचि, संस्कारों और वातावरण का यथातथ्य चित्रण किया है। काव्य की भाषा सरल और प्रवाहमयी है। शान्त और करुण-रस का उचित पर्यवसान, साथ ही इतिहास-प्रसिद्ध घटना का काव्यगत निर्माण कुछ ऐसा अनूठा

बन पड़ा है जो कवि की कलात्मक रुचि और गुणग्राही प्रतिभा का द्योतक है।

× × × ×

उपर्युक्त काव्य और काव्य-ग्रन्थों के विवेचन से स्पष्ट है कि जो कवि जितना ही सौन्दर्य के शाश्वत स्वरूप को हृदयंगम कर पाता है, वह उतनी ही खूबी से अपनी प्रतिभा और अन्तःशक्ति का उपयोग करता है। चूँकि भावनाओं का संचरण सर्वदेशीय है, अतएव काव्य के विषय भी सर्वदेशीय और समान महत्ता वाले होते हैं। कवि अपनी मौलिक प्रतिभा एवं अन्तःशक्ति से निर्जीव को भी सजीव, और साधारण को भी लोकोत्तर बना सकता है।

आज महाकाव्य का स्तर अपेक्षाकृत घट गया है। उक्त सभी महाकाव्य, जिनका विवेचन हम ऊपर कर चुके हैं, सही मानों में महाकाव्य कहलाने के अधिकारी नहीं हैं। रामायण, महाभारत जैसी संस्कृत महाकाव्यों की सी उदात्तता उनमें नहीं आ पाई है, तो भी इस वैज्ञानिक युग के शुष्क मरुस्थल में जो सरस भाव-धारा की स्रोतस्विनी बहा सके हैं, हिन्दी संसार उनका चिर-ऋणी रहेगा।

५८३, दरियागंज, दिल्ली
१२ जुलाई, १९५१

शचीरानी गुर्टू

# काव्य-दर्शन

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

# कृष्ण-सन्देश

( प्रिय प्रवास से )

इसी तपोभूमि - समान वाटिका -
सु-अंक में सुन्दर एक कुञ्ज थी।
समावृता श्यामल - पुष्प - संकुला।
अनेकशः वेलि - लता - समूह से॥

विराजती थीं वृष-भानु - नन्दिनी।
इसी बड़े नीरव शान्त - कुञ्ज में।
अतः यहीं श्रीबलवीर - बन्धु ने।
उन्हें विलोका अलि वृन्द आवृता॥

प्रशान्त, म्लान, वृषभानु-कन्यका -
सु - मूर्ति देवी सम दिव्यतामयी।
विलोक, हो भावित भक्ति-भाव से।
विचित्र ऊधो - उर की दशा हुई॥

[illegible] थीं [illegible] कान्ति [illegible] नेत्र की।
[illegible] थी [illegible] विषाद-अंकिता।
[illegible] - [illegible] सी [illegible]।
[illegible] - [illegible] - [illegible]॥

स-प्रीति वे आदर के लिये उठीं।
विलोक आया व्रज-देव-बन्धु को।
पुनः उन्होंने निज-शान्त-कुंज में।
उन्हें बिठाया अति-भक्ति-भाव से॥

अतीव-सम्मान समेत आदि में।
व्रजेश्वरी की कुशलादि पूछ के।
पुनः सुधी-ऊधव ने स-नम्रता।
कहा सँदेसा यह श्याम-मूर्त्ति का॥३६॥

मन्दाक्रान्ता छन्द

"प्राणाधारे परम-सरले प्रेम की मूर्त्ति राधे।
निर्माता ने पृथक् तुमसे यों किया क्यों मुझे है।
प्यारी आशा प्रिय-मिलन की नित्य है दूर होती।
कैसे ऐसे कठिन-पथ का पान्थ मैं हो रहा हूँ॥

जो दो प्यारे हृदय मिल के एक ही हो गये हैं।
क्यों धाता ने विलग उनके गात को यों किया है।
कैसे आ के गुरु-गिरि पड़े बीच में हैं उन्हींके।
जो दो प्रेमी मिलित पय औ नीर से नित्यशः थे॥

उत्कण्ठा के विवश नभ को, भूमि को, पादपों को।
तारात्रों को, मनुज-मुख को प्रायशः देखता हूँ।
प्यारी! ऐसी न ध्वनि मुझको है कहीं भी सुनाती।
जो चिन्ता से चलित-चित की शान्ति का हेतु होवे॥

जाना जाता मरम विधि के बंधनों का नहीं है।
तो भी होगा उचित चित में यों प्रिये सोच लेना।
होते जाते विफल यदि हैं सर्व-संयोग सूत्र।
तो होवेगा निहित इसमें श्रेय का बीज कोई॥

है प्यारी औ मधुर सुख औ भोग की लालसायें।
कान्ते, लिप्सा जगत-हित की और भी है मनोज्ञा।
इच्छा आत्मा परम-हित की मुक्ति की उत्तमा है।
वांछा होती विशद उससे आत्म-उत्सर्ग की है॥

जो होता है निरत तप में मुक्ति की कामना से।
आत्मार्थी है, न कह सकते हैं उसे आत्मत्यागी।
जी से प्यारा जगत-हित औ लोक-सेवा जिसे है।
प्यारी सच्चा अवनि-तल में आत्मत्यागी वही है॥

जो पृथ्वी के विपुल-सुख की माधुरी है विपाशा।
प्राणी-सेवा जनित सुख की प्राप्ति तो जह्नुजा है।
जो आद्या है नखत द्युति सी व्याप जाती उरों में।
तो होती है लसित उसमें कौमुदी सी द्वितीया॥

भोगों में भी विविध कितनीं रंजिनी-शक्तियाँ हैं।
वे तो भी हैं जगत-हित से मुग्धकारी न होते।
सच्ची यों है कलुप उनमें हैं बड़े क्लान्ति-कारी।
पाई जाती लसित इसमें शान्ति लोकोत्तरा है॥

है आत्मा का न सुख किसको विश्वके मध्य प्यारा।
सारे प्राणी स-रुचि इसकी माधुरी में बँधे हैं।
जो होता है न वश इसके आत्म-उत्सर्ग-द्वारा।
ऐ कान्ते है सफल अवनी-मध्य आना उसी का॥

जो है भावी परम-प्रबला दैव-इच्छा प्रधाना।
तो होवेगा उचित न, दुखी वांछितों हेतु होना।
श्रेयःकारी सतत दयिते सात्विकी-कार्य्य होगा।
जो हो स्वार्थोपरत भव में सर्व-भूतोपकारी॥

वंशस्थ छन्द

अतीव हो अन्यमना विपादिता।
विमोचते वारि दृगारविन्द से।
समस्त सन्देश सुना ब्रजेश का।
ब्रजेश्वरी ने उर वज्र सा बना॥

पुनः उन्होंने अति शान्त-भाव से।
कभी वहा अश्रु कभी स-धीरता।
कहीं स्व-बातें बलवीर-बंधु से।
दिखा कलत्रोचित-चित्त-उच्चता॥

मन्दाक्रान्ता छन्द

"मैं हूँ ऊधो पुलकित हुई आपको आज पा के।
सन्देशों को श्रवण कर के और भी मोदिता हूँ।
मंदीभूता, उर-तिमिर की ध्वंसिनी ज्ञान आभा।
उद्दीप्ता हो उचित-गति से उज्ज्वला हो रही है॥

मेरे प्यारे, पुरुष, पृथिवी-रत्न औ शान्त धी हैं।
सन्देशों में तदपि उनकी, वेदना, व्यंजिता है।
मैं नारी हूँ, तरल-उर हूँ, प्यार से वंचिता हूँ।
जो होती हूँ विकल, विमना, व्यस्त, वैचित्र्य क्या है॥

हो जाती है रजनि मलिना ज्यों कला-नाथ डूबे।
वाटी शोभा रहित बनती ज्यों वसन्तान्त में है।
त्योंही प्यारे विधु-वदन की कान्ति से वंचिता हो।
श्री-हीना और मलिन व्रज की मेदिनी हो गई है॥

जैसे प्रायः लहर उठती वारि में वायु से है।
त्योंही होता चित चलित है कश्चिदावेग-द्वारा।
उद्वेगों से व्यथित बनना बात स्वाभाविकी है।
हाँ, ज्ञानी औ विबुध-जन में मुह्यता है न होती॥

पूरा-पूरा परम-प्रिय का मर्म्म मैं बूझती हूँ।
है जो वांछा विशद उर में जानती भी उसे हूँ।
यत्नों द्वारा प्रति-दिन अतः मैं महा संयता हूँ।
तो भी देती विरह-जनिता-वासनायें व्यथा हैं॥

जो मैं कोई विहग उड़ता देखती व्योम में हूँ।
तो उत्कण्ठा-विवश चित में आज भी सोचती हूँ।
होते मेरे अबल तन में पक्ष जो पक्षियों से।
तो यों ही मैं स-मुद उड़ती श्याम के पास जाती॥

जो उत्कण्ठा अधिक प्रबला है किसी काल होती।
तो ऐसी है लहर उठती चित्त में कल्पना की।
जो हो जाती पवन, गति पा वांछिता लोक प्यारी।
मैं छू आती परम-प्रिय के मंजु-पादाम्बुजों को॥

निर्लिप्ता हूँ अधिकतर मैं नित्यशः संयता हूँ।
तो भी होती अति व्यथित हूँ श्याम की याद आते।
वैसी वांछा जगत-हित की आज भी है न होती।
जैसी जी में लसित प्रिय के लाभ की लालसा है॥

हो जाता है उदित उर में मोह जो रूप-द्वारा।
व्यापी भू में अधिक जिसकी मंजु-कार्य्यावली है।
जो प्रायः है प्रसव करता मुग्धता मानसों में।
जो है क्रीड़ा अवनि चित की भ्रान्ति उद्विग्नता का॥

जाता है पंच-शर जिसकी 'कल्पिता-मूर्त्ति' माना।
जो पुष्पों के विशिख-बल से विश्व को वेधता है।
भाव - ग्राही मधुर - महती चित्त - विक्षेप - शीला।
न्यारी-लीला सकल जिसकी मानसोन्मादिनी है॥

वैचित्र्यों से वलित उसमें ईदृशी शक्तियाँ हैं।
ज्ञाताओं ने प्रणय उसको है बताया न तो भी।
है दोनों से सबल बनती भूरि-आसंग-लिप्सा।
होती है किन्तु प्रणयज ही स्थायिनी औ प्रधाना॥

जैसे पानी प्रणय तृषितों की तृषा है न होती।
हो पाती है न क्षुधित-क्षुधा अन्न-आसक्ति जैसे।
वैसे ही रूप निलय नरों मोहिनी - मूर्त्तियों में।
हो पाता है न 'प्रणय' हुआ मोह रूपादि-द्वारा॥

मूली-भूता इस प्रणय की बुद्धि की वृत्तियाँ हैं।
हो जाती हैं समधिकृत जो व्यक्ति के सद्गुणों से।
वे होते हैं नित नव, तथा दिव्यता-धाम, स्थायी।
पाई जाती प्रणय-पथ में स्थायिता है इसीसे॥

हो पाता है विकृत स्थिरता-हीन है रूप होता।
पाई जाती नहिं इस लिये मोह में स्थायिता है।
होता है रूप विकसित भी प्रायशः एक ही सा।
हो जाता है प्रशमित अतः मोह संभोग से भी॥

नाना स्वार्थों सरस सुख की वासना-मध्य डूबा।
आवेगों से वलित ममतावान है मोह होता।
निष्कामी है प्रणय शुचिता-मूर्त्ति है सात्विकी है।
होती पूरी प्रमिति उसमें आत्म-उत्सर्ग की है॥

सद्यः होती फलित, चित में मोह की मत्तता है।
धीरे-धीरे प्रणय बसता, व्यापता है उरों में।
हो जाती हैं विवश अपरा-वृत्तियाँ मोह-द्वारा।
भावोन्मेषी प्रणय करता चित्त सद्वृत्ति को है॥

हो जाते हैं उदय कितने भाव ऐसे उरों में।
होती है मोह-वश जिनमें प्रेम की भ्रान्ति प्रायः।
वे होते हैं न प्रणय न वे हैं समीचीन होते।
पाई जाती अधिक उनमें मोह की वासना है॥

हो के उत्कण्ठ प्रिय-सुख की भूयसी-लालसा से।
जो है प्राणी हृदय-तल की वृत्ति उत्सर्ग-शीला।
पुण्याकांक्षा सुयश-रुचि वा धर्म-लिप्सा बिना ही।
ज्ञाताओं ने प्रणय अभिधा दान की है उसीको॥

आदौ होता गुण ग्रहण है उक्त सद्वृत्ति-द्वारा।
हो जाती है उदित उर में फेर आसंग लिप्सा।
होती उत्पन्न सहृदयता बाद संसर्ग के है।
पीछे खो आत्म-सुधि लसती आत्म-उत्सर्गता है॥

सद्गंधों से, मधुर-स्वर से, स्पर्श से औ रसों से।
जो हैं प्राणी हृदय-तल में मोह उद्भूत होते।
वे ग्राही हैं जन-हृदय के रूप में मोह ही से।
हो पाते हैं तदपि उतने मत्तकारी नहीं वे॥

व्यापी भी है अधिक उनसे रूप का मोह होता।
पाया जाता प्रबल उसका चित्त-चाञ्चल्य भी है।
मानी जाती न क्षिति-तल में है पतंगोपमाना।
भृङ्गों, मीनों, द्विरद मृग की मत्तता प्रीतिमत्ता॥

मोहों में है प्रबल सबसे रूप का मोह होता।
कैसे होंगे अपर, वह जो प्रेम है हो न पाता।
जो है प्यारा प्रणय-मणि सा कान्त सा मोह तो है।
ऊँची न्यारी रुचिर महिमा मोह से प्रेम की है॥

दोनों आँखें निरख जिसको तृप्त होती नहीं है!
ज्यों-ज्यों देखें अधिक जिसकी दीखती मंजुता है।
जो है लीला-निलय महि में वस्तु स्वर्गीय जो है।
ऐसा राका - उदित - विधु सा रूप उल्लासकारी॥

उत्कण्ठा से बहु सुन जिसे मत्त सा बार लाखों।
कानों की है न तिल भर भी दूर होती पिपासा।
हृत्तन्त्री में ध्वनित करता स्वर्ग-संगीत जो है।
ऐसा न्यारा - स्वर -उर - जयी विश्व -व्यामोहकारी॥

होता है मूल अग जग के सर्वरूपों-स्वरों का।
या होती हैं मिलित उसमें मुग्धता सद्गुणों की।
ए बातें ही विहित-विधि के साथ हैं व्यक्त होती।
न्यारे गंधों सरस-रस, औ स्पर्श-वैचित्र्य में भी॥

पूरी - पूरी कुँवर - वर के रूप में है महत्ता।
मंत्रों से हो मुखर, मुरली दिव्यता से भरी है।
सारे न्यारे प्रमुख-गुण की सात्विकी मूर्त्ति वे हैं।
कैसे व्यापी प्रणय उनका अन्तरों में न होगा॥

जो आसक्ता व्रज-अवनि में बालिकायें कई हैं।
वे सारी ही प्रणय-रँग से श्याम के रञ्जिता हैं।
मैं मानूँगी अधिक उनमें हैं महा-मोह-मग्ना।
तो भी प्रायः प्रणय-पथ की पंथिनी ही सभी हैं॥

मेरी भी है कुछ गति यही श्याम को भूल दूँ क्यों।
काढ़ूँ कैसे हृदय-तल से श्यामली-मूर्त्ति न्यारी।
जीते जी जो न मन सकता भूल है मंजु-तानें।
तो क्यों होंगी शमित प्रिय के लाभ की लालसायें॥

ए आँखें हैं जिधर फिरती चाहती श्याम को हैं।
कानों को भी मधुर रव की आज भी लौ लगी है।
कोई मेरे हृदय-तल को पैठ के जो विलोके।
तो पावेगा लखित उसमें कान्ति-प्यारी उन्हीं की ॥

जो होता है उदित नभ में कौमुदी कांत आ के।
या जो कोई कुसुम विकसा देख पाती कहीं हूँ।
शोभा-वाले हरित दल के पादपों को विलोके।
है प्यारे का विकच-मुखड़ा आज भी याद आता ॥

कालिन्दी के पुलिन पर जा, या, सजीले-सरों में।
जो मैं फूले-कमल-कुल को मुग्ध हो देखती हूँ।
तो प्यारे के कलित-कर की औ अनूठे पगों की।
छा जाती है सरस-सुषमा वारि स्रावी दृगों में ॥

तारात्रों से खचित-नभ को देखती जो कभी हूँ।
या मेघों में मुदित-बक की पंक्तियाँ दीखती हैं।
तो जाती हूँ उमग बँधता ध्यान ऐसा मुझे है।
मानों मुक्ता-लसित उर है श्याम का दृष्टि आता ॥

छू देती है मृदु-पवन जो पास आ गात मेरा।
तो हो जाती परस सुधि है श्याम-प्यारे करों की।
ले पुष्पों की सुरभि वह जो कुञ्ज में डोलती है।
तो गंधों से वलित मुख की वास है याद आती ॥

ऊँचे-ऊँचे शिखर चित की उच्चता हैं दिखाते।
ला देता है परम दृढ़ता मेरु आगे दृगों के।
नाना-क्रीड़ा-निलय-झरना चारु-छींटें उड़ाता।
उल्लासों को कुँवर-वर के चक्षु में है लसाता ॥८२॥

कालिन्दी एक प्रियतम के गात की श्यामता ही।
मेरे प्यासे दृग-युगल के सामने है न लाती।
प्यारी लीला सकल अपने कूल की मंजुला से।
सद्भावों के सहित चित में सर्वदा है लसाती ॥

फूली संध्या परम-प्रिय की कान्ति सी है दिखाती।
मैं पाती हूँ रजनी - तन में श्याम का रङ्ग छाया।
ऊषा आती प्रति - दिवस है प्रीति से रंजिता हो।
पाया जाता वर - वदन सा ओप आदित्य में है॥

मैं पाती हूँ अलक - सुषमा भृङ्ग की मालिका में।
है आँखों की सु - छवि मिलती खंजनों औ मृगों में।
दोनों बाँहें कलभ कर को देख हैं याद आतीं।
पाई शोभा रुचिर शुक के ठोर में नासिका की॥

है दाँतों की झलक मुझको दीखती दाड़िमों में।
बिम्बाओं में वर अधर सी राजती लालिमा है।
मैं केलों में जघन - युग की मंजुता देखती हूँ।
गुल्फों की सी ललित सुषमा है गुलों में दिखाती॥

नेत्रोन्मादी बहु - मुदमयी - नीलिमा गात की सी।
न्यारे नीले गगन - तल के अङ्क में राजती है।
भू में शोभा, सुरस जल में, वह्नि में दिव्य - आभा।
मेरे प्यारे - कुँवर वर सी प्रायशः है दिखाती॥

सायं - प्रातः सरस - स्वर से कूजते हैं पखेरू।
प्यारी - प्यारी मधुर - ध्वनियाँ मत्त हो, हैं सुनाते।
मैं पाती हूँ मधुर ध्वनि में कूजने में खगों के।
मीठी - तानें परम - प्रिय की मोहिनी - वंशिका की॥

मेरी बातें श्रवण कर के आप उद्विग्न होंगे।
जानेंगे मैं विवश बन के हूँ महा - मोह - मग्ना।
सच्ची यों है न निज - सुख के हेतु मैं मोहिता हूँ।
संज्ञा में प्रणय - पथ के भावतः हूँ सयत्ना॥

हो जाती है विधि - सृजन से इक्षु में माधुरी जो।
आ जाता है परम रंग जो पुष्प की पंखड़ी में।
क्यों होता है [illegible] द्रवता - पुष्पता के।
ऐसी ही तो प्रणय उर में जीवनाधार होगा॥९०॥

क्यों मोहेंगे न दृग लख के मूर्त्तियाँ रूपवाली।
कानों को भी मधुर-स्वर से मुग्धता क्यों न होगी।
क्यों डूबेंगे न उर रंग में प्रीति-आरंजितों के।
धाता-द्वारा सृजित तन में तो इसी हेतु वे हैं॥

छाया-ग्राही मुकुर यदि हो वारि हो चित्र क्या है।
जो वे छाया ग्रहण न करें चित्रता तो यही है।
वैसे ही नेत्र, श्रुति, उर में जो न रूपादि व्यापें।
तो विज्ञानी, विबुध उनको स्वस्थ कैसे कहेंगे॥

पाई जाती श्रवण करने आदि में भिन्नता है।
देखा जाना प्रभृति भव में भूरि-भेदों भरा है।
कोई होता कलुष-युत है कामना-लिप्त हो के।
त्योंही कोई परम-शुचितावान औ संयमी है॥

पक्षी होता सु-पुलकित है देख सत्पुष्प फूला।
भौंरा शोभा निरख रस ले मत्त हो गूँजता है।
अर्थी-माली मुदित बन भी है उसे तोड़ लेता।
तीनों का ही कल-कुसुम का देखना यों त्रिधा है॥

लोकोल्लासी छवि लख किसी रूप उद्भासिता की।
कोई होता मदन-वश है मोद में मग्न कोई।
कोई गाता परम-प्रभु की कीर्त्ति है मुग्ध सा हो।
यों तीनों की प्रचुर-प्रखरा दृष्टि है भिन्न होती॥

शोभा-वाले विटप विलसे पक्षियों के स्वरों से।
विज्ञानी है परम-प्रभु के प्रेम का पाठ पाता।
व्याधा की हैं हनन-रुचियाँ और भी तीव्र होती।
यों दोनों के श्रवण करने में बड़ी भिन्नता है॥

यों ही है भेद युत चखना, सूँघना और छूना।
पात्रों में है प्रकट इनकी भिन्नता नित्य होती।
ऐसी ही हैं हृदय-तल के भाव में भिन्नतायें।
भावों ही से अवनि-तल है स्वर्ग के तुल्य होता॥

प्यारे आवें सु-वयन कहें प्यार से गोद लेवें।
ठंडे होवें नयन, दुख हों दूर मैं मोद पाऊँ।
ए भी हैं भाव मम उर के और ए भाव भी हैं।
प्यारे जीवें जग-हित करें गेह चाहे न आवें॥

जो होता है हृदय-तल का भाव लोकोपतापी।
छिद्रान्वेषी, मलिन, वह है तामसी-वृत्ति-वाला।
नाना भोगाकलित, विविधा-वासना-मध्य डूबा।
जो है स्वार्थाभिमुख वह है राजसी-वृत्ति शाली॥

निष्कामी है भव-सुखद है और है विश्व-प्रेमी।
जो है भोगोपरत वह है सात्विकी-वृत्ति-शोभी।
ऐसी ही है श्रवण करने आदि की भी व्यवस्था।
आत्मोत्सर्गी, हृदय-तल की सात्विकी-वृत्ति ही है॥

जिह्वा, नासा, श्रवण अथवा नेत्र होते शरीरी।
क्यों त्यागेंगे प्रकृति अपने कार्य्य को क्यों तजेंगे।
क्यों होवेंगी शमित उर की लालसायें, अतः मैं।
रंगे देती प्रति-दिन उन्हें सात्विकी-वृत्ति में हूँ॥

कंजों का या उदित-विधु का देख सौंदर्य्य आँखों।
या कानों से श्रवण कर के गान मीठा खगों का।
मैं होती थी व्यथित, अब हूँ शान्ति सानन्द पाती
प्यारे के पाँव, मुख, मुरली-नाद जैसा उन्हें पा॥

यों ही जो है अवनि नभ में दिव्य, प्यारा, उन्हें मैं।
जो छूती हूँ श्रवण करती देखती सूँघती हूँ।
तो होती हूँ मुदित उनमें भावतः श्याम की पा
न्यारी शोभा, सुगुण - गरिमा अंग संभूत साम्य॥

हो जाने से हृदय - तल का भाव ऐसा निराला।
मैंने न्यारे परम गरिमावान दो लाभ पाये।
मेरे जी में हृदय विजयी विश्व का प्रेम जागा।
मैंने देखा परम प्रभु को स्वीय - प्राणेश ही में॥

पाई जाती विविध जितनी वस्तुयें हैं सबों में।
जो प्यारे को अमित रंग औ रूप में देखती हूँ।
तो मैं कैसे न उन सबको प्यार जी से करूँगी।
यों है मेरे हृदय - तल में विश्व का प्रेम जागा॥

जो आता है न जन - मन में जो परे बुद्धि के है।
जो भावों का विषय न बना नित्य अव्यक्त जो है।
है ज्ञाता की न गति जिसमें इन्द्रियातीत जो है।
सो क्या है, मैं अबुध अबला जान पाऊँ उसे क्यों॥

शास्त्रों में है कथित प्रभु के शीश औ लोचनों की।
संख्यायें हैं अमित पग औ हस्त भी हैं अनेकों।
सो हो के भी रहित मुख से नेत्र नासादिकों से।
छूता, खाता, श्रवण करता, देखता, सूँघता है॥

ज्ञाताओं ने विशद इसका मर्म यों है बताया।
सारे प्राणी अखिल जग के मूर्त्तियाँ हैं उसीकी।
होती आँखें प्रभृति उनकी भूरि - संख्यावती हैं।
सो विश्वात्मा अमित - नयनों आदि - वाला अतः है॥

निष्प्राणों की विफल बनती सर्व - गात्रेन्द्रियाँ हैं।
है अन्या - शक्ति कृति करती वस्तुतः इन्द्रियों की।
सो है नासा न दृग रसना आदि ईशांश ही है।
हो के नासादि रहित अतः सूँघता आदि सो है॥

ताराओं में तिमिर - हर में वह्नि - विद्युल्लता में
नाना रत्नों, विविध मणियों में विभा है उसीकी।
पृथ्वी, पानी, पवन, नभ में, पादपों में, खगों में।
मैं पाती हूँ प्रथित - प्रभुता विश्व में व्याप्त की ही॥

प्यारी - सत्ता जगत - गत की नित्य लीला - मयी है।
स्नेहोपेता परम - मधुरा पूतता में पगी है।
ऊँची - न्यारी - सरल - सरसा ज्ञान - गर्भा मनोज्ञा।
पूज्या मान्या हृदय - तल की रंजिता उज्ज्वला है॥

मैंने की हैं कथन कितनी शास्त्र-विज्ञात बातें।
वे बातें हैं प्रकट करती ब्रह्म है विश्व-रूपी।
व्यापी है विश्व प्रियतम में विश्व में प्राणप्यारा।
यों ही मैंने जगत-पति को श्याम में है विलोका॥

शास्त्रों में है लिखित प्रभु की भक्ति निष्काम जो है।
सा दिव्या है मनुज-तन की सर्व संसिद्धियों से।
मैं होती हूँ सुखित यह जो तत्वतः देखती हूँ।
प्यारे की औ परम-प्रभु की भक्तियाँ हैं अभिन्ना॥

द्रुतविलम्बित छन्द

जगत-जीवन प्राण स्वरूप का।
निज पिता जननी गुरु आदि का।
स्व-प्रिय का प्रिय साधन भक्ति है।
वह अकाम महा-कमनीय है॥

श्रवण, कीर्त्तन, वन्दन, दासता।
स्मरण, आत्म-निवेदन, अर्चना।
सहित सख्य तथा पद-सेवना।
निगदिता नवधा प्रभु-भक्ति है॥

वंशस्थ छन्द

बना किसी की यक मूर्त्ति कल्पिता।
करे उसी की पद-सेवनादि जो।
न तुल्य होगा वह बुद्धि दृष्टि से।
स्वयं उसी की पद-अर्चनादि के॥

मन्दाक्रान्ता छन्द

विश्वात्मा जो परम प्रभु है रूप तो हैं उसी के।
सारे प्राणी सरि गिरि लता वेलियाँ वृक्ष नाना।
रक्षा पूजा उचित उनका यत्न सम्मान सेवा।
भावोपेता परम प्रभु की भक्ति सर्वोत्तमा है॥

जी से सारा कथन सुनना आर्त्त - उत्पीड़ितों का।
रोगी प्राणी व्यथित जन का लोक - उन्नायकों का।
सच्छास्त्रों का श्रवण सुनना वाक्य सत्संगियों का।
मानी जाती श्रवण - अभिधा - भक्ति है सज्जनों में॥

सोये जागें, तम - पतित की दृष्टि में ज्योति आवे।
भूले आवें सु - पथ पर औ ज्ञान - उन्मेष होवे।
ऐसे गाना कथन करना दिव्य - न्यारे गुणों का।
है प्यारी भक्ति प्रभुवर की कीर्त्तनोपाधिवाली॥

विद्वानों के स्व - गुरु - जन के देश के प्रेमिकों के।
ज्ञानी दानी सु - चरित गुणी सर्व - तेजस्वियों के।
आत्मोत्सर्गी विबुध जन के देव सद्विग्रहों के।
आगे होना नमित प्रभु की भक्ति है वन्दनाख्या॥

जो बातें हैं भव - हितकारी सर्व - भूतोपकारी।
जो चेष्टायें मलिन गिरती जातियाँ हैं उठाती।
हो सेवा में निरत उनके अर्थ उत्सर्ग होना।
विश्वात्मा - भक्ति भव - सुखदा दासता - संज्ञका है॥

कंगालों को विवश विधवा औ अनाथाश्रितों की।
उद्विग्नों की सुरति करना औ उन्हें त्राण देना।
सत्कार्य्यों का पर - हृदय की पीर का ध्यान आना।
मानी जाती स्मरण - अभिधा भक्ति है भावुकों में॥

## द्रुतविलम्बित छन्द

विपद - सिन्धु पड़े नर - वृन्द के
दुःख - निवारण औ हित के लिये।
अरपना अपने तन प्राण को।
प्रथित आत्म - निवेदन - भक्ति है॥

## मन्दाक्रान्ता छन्द

संत्रस्तों को शरण मधुरा - शान्ति संतापितों को।
निर्बोधों को सु - मति विविधा औषधी पीड़ितों को।
पानी देना तृषित - जन को अन्न भूखे नरों को।
सर्वात्मा भक्ति अति रुचिरा अर्चना - संज्ञका है॥

नाना प्राणी तरु गिरि लता आदि की बात ही क्या।
जो दूर्वा से द्यु - मणि तक है व्योम में या धरा में।
सद्भावों के सहित उनसे कार्य्य - प्रत्येक लेना।
सच्चा होना सुहृद उनका भक्ति है सख्य - नाम्नी।

## वसंततिलका छन्द

जो प्राणि-पुंज निज कर्म्म-निपीड़नों से।
नीचे समाज - वपु के पग सा पड़ा है।
देना उसे शरण मान प्रयत्न द्वारा।
है भक्ति लोक - पति की पद-सेवनाख्या॥

## द्रुतविलम्बित छन्द

कह चुकी प्रिय - साधन ईश का।
कुँवर का प्रिय - साधन है यही।
इस लिये प्रिय की परमेश की।
परम - पावन - भक्ति अभिन्न है॥

यह हुआ मणि - कांचन - योग है।
मिलन है यह स्वर्ण - सुगन्ध का।
यह सुयोग मिले बहु - पुण्य से।
अवनि में अति - भाग्यवती हुई॥

## मन्दाक्रान्ता छन्द

जो इच्छा है परम - प्रिय की जो अनुज्ञा हुई है।
मैं प्राणों के अछत उसको भूल कैसे सकूँगी।
यों भी मेरे परम व्रत के तुल्य बातें यही थीं।
हो जाऊँगी अधिक अब मैं दत्तचित्ता इन्हीं में॥

मानूँगी अधिक मुझमें मोह - मात्रा अभी है।
होती हूँ मैं प्रणय - रँग से रंजिता नित्य तो भी।
ऐसी हूँगी निरत अब मैं पूत कार्य्यावली में।
मेरे जी में प्रणय जिससे पूर्णतः व्याप्त होवे ॥

मैंने प्रायः निकट प्रिय के बैठ, है भक्ति सीखी।
जिज्ञासा से विविध उसका मर्म है जान पाया।
चेष्टा ऐसी सतत अपनी बुद्धि - द्वारा करूँगी।
भूलूँ - चूकूँ न इस व्रत की पूत - कार्य्यावली में ॥

जा के मेरी विनय इतनी नम्रता से सुनावें।
मेरे प्यारे कुँवर - वर को आप सौजन्य -- द्वारा।
मैं ऐसी हूँ न निज - दुख से कष्टिता शोक - मग्ना।
हा ! जैसी हूँ व्यथित व्रज के वासियों के दुखों से ॥

गोपी गोवों विकल व्रज की बालिका बालकों को।
आ के पुष्पानुपम मुखड़ा प्राणप्यारे दिखावें।
बाधा कोई न यदि प्रिय के चारु - कर्त्तव्य में हो।
तो वे आ के जनक - जननी की दशा देख जावें ॥

मैं मानूँगी अधिक बढ़ता लोभ है लाभ ही से।
तो भी होगा सु - फल कितनी भ्रान्तियाँ दूर होंगी।
जो उत्कंठा - जनित दुखड़े दाहते हैं उरों को।
सद्वाक्यों से प्रबल उनका वेग भी शान्त होगा ॥

सत्कर्मी हैं परम - शुचि हैं आप ऊधो सुधी हैं।
अच्छा होगा सनय प्रभु से आप चाहें यही जो।
आज्ञा भूलूँ न प्रियतम की विश्व के काम आऊँ।
मेरा कौमार - व्रत भव में पूर्णता प्राप्त होवे ॥"

द्रुतविलम्बित छन्द

चुप हुईं इतना कह मुग्ध हो।
व्रज - विभूति - विभूषण राधिका।
चरण की रज ले हरिबन्धु भी।
परम - शान्ति - समेत विदा हुए।।

मैथिलीशरण गुप्त

# भरत का अनुताप

( साकेत से )

'स्वप्न' किसका देखकर सविलास;
कर रही है कवि-कला कल-हास
और 'प्रतिमा' भेंट किसकी भास,
भर रही है वह करुण-निःश्वास?

छिन्न भी है, भिन्न भी है, हाय!
क्यों न रोवे लेखनी निरुपाय?
क्यों न भर आँसू बहावे नित्य?
सींच करुणे, सरस स्व साहित्य!

जान कर क्या शून्य निज साकेत,
लौट आये राम अनुज-समेत?
या उन्हींके अन्य रूप अनन्य,
ये भरत-शत्रुघ्न दोनों धन्य?
क्यों हुए हैं ये उदास अशान्त?
दीर्घ यात्रा ने किया है क्लान्त!
या जगी में क्यों मही की ग्लानि,
हुई भी विच्छिन्न हुई गृह-ग्लानि?
'सूत, रथ की गति करो कुछ मन्द,
अश्व आगे से चलें स्वच्छन्द।

अनुज, देखो, आ गया साकेत,
दीखते हैं उच्च राज-निकेत।
काम्य, कर्बुर, केतु-भूषित अट्ट,
गगन में ज्यों सान्ध्य घन संघट्ट।

अवनि-पुण्याकृष्ट; लोक-ललाम,
मौन खिंच आया यथा सुरधाम!
किन्तु करते हाय! आज प्रवेश,
काँपता है क्यों हृदय सविशेष!

जान पड़ता है, न जाकर आप,
मैं खिंचा जाता, खिंचे ज्यों चाप!
जब उमड़ना चाहिये आह्लाद,
हो रहा है क्यों मुझे अवसाद?
निकट ज्यों ज्यों आ रहा है गेह,
सिहरती है क्यों न जानें देह!
बन्धु, दोनों ओर दो तुम ध्यान,
आ गये ये बाह्य नगरोद्यान।

हो रही संध्या अभी उपलब्ध,
किन्तु मानों अर्द्धनिशि निस्तब्ध!
नागरिक-गण-गोष्ठियों से हीन,
आज उपवन हैं विजन में लीन।

वृक्ष मानों व्यर्थ बाट निहार,
झँप उठे हैं झींम, झुक, थक, हार!
कर रही सरयू जिसे कुछ रुद्ध,
बह रही है वायु-धारा शुद्ध।

पर किसे है आज इसकी चाह?
भर रही यह आप ठंडी आह!
जा रहा है व्यर्थ सुरभि-समीर,
हैं पड़े हत-से सरों के तीर!
देख कर ये रिक्त क्रीड़ा क्षेत्र,

हैं भरे आते उमड़ कर नेत्र।
याद है, घुड़दौड़ का वह खेल,
हँस मुझे जब हाथ से कुछ ठेल,
हय उड़ा कर, उछल आप समक्ष,
प्रथम लक्ष्मण ने धरा ध्वजलक्ष्य ?

दीख पड़ते हैं न सादी आज,
गज न लाते हैं निषादी आज,
फिर रही गायें रंभाती दूर,
भागते हैं श्लथ-शिखण्ड मयूर।

पार्श्व से यह खिसकती-सी आप,
जा रही सरयू बही चुपचाप।
चल रही नावें न उसमें तैर,
लोग करते हैं न तट पर सैर।

कुछ न कुछ विघटित हुआ विभ्राट,
विप्र-पंक्ति-विहीन हैं सब घाट।
क्या हुआ सन्ध्यार्घ्य का वह ठाठ ?
सुन नहीं पड़ता कहीं श्रुति-पाठ !

ये तरणि अपने अतुल कुल-मूल,
सुरस देते हैं जिन्हें युग कूल,
उदित थे जिस लालिमा के संग,
अस्त भी हैं रख वही रस-रंग।

आयेंगे फिर ये इसी विध कल्य,
जन्म-जीवन का यही साफल्य।
नमन तुमको देव, निज कुलकेतु,
तुम तथा चिरकाल इस भव-हेतु।

मानते हैं अनुज, अपने ज्येष्ठ,
मुक्ति से आवागमन यह श्रेष्ठ।
खटकता है किन्तु मेरा चित्त,
भटकता है भावना का वित्त।

निकट हो दिन-रात-सन्धि सहर्ष,
किन्तु जँचता है मुझे संघर्ष।
दीखता है अन्धकार समीप,
भीत मत हो, आर्य हैं कुल-दीप।

तब कहा शत्रुघ्न ने भर आह—
"था कहाँ मेरा विचार-प्रवाह!
घर पहुँच कर, कल्पना के साथ,
हो रहा था मैं सहर्ष सनाथ।

पूछते थे कुशल मानों तात,
प्रेम-पूर्वक भेटते थे भ्रात।
चढ़ रहा था जननियों का मोद,
हँस रही थीं भाभियाँ सविनोद।

कह यहाँ के वृत्त सहचर बाल,
पूछते थे सब वहाँ के हाल।
प्राप्त मातुल से हुए जो द्रव्य,
था अमात्यों को वही सब श्रव्य।

सब हमें नव, हम सभी को नव्य,
हो रहे थे ज्ञात कितने भव्य।
वेष - भाषा - भंगियों पर हास्य,
कर रहे थे सरस सबके आस्य।

हम अतिथि-से थे स्वगृह में आज,
सम्मिलित था क्या अपूर्व समाज।
हो रहा था हर्ष, उत्सव, गान,
और सबका संग भोजन-पान।
पर निरख अब दृश्य ये विपरीत,
हो उठा हूँ आर्य्य, मैं अति भीत।
जान पड़ता है, पिता सविशेष,
रुग्ण होकर पा रहे हैं क्लेश।"
"रुग्ण ही हों तात हे भगवान्!"

भरत सिहरे शफर-वारि-समान।
ली उन्होंने एक लम्बी साँस,
हृदय में मानों गड़ी हो गाँस।
"सूत तुम खींचे रहो कुछ रास,
कर चुके हैं अश्व अति आयास।
या कि ढीली छोड़ दो, हा हन्त,
हो किसी विध इस अगति का अन्त।
जब चले थे तुम यहाँ से दूत,
तब पिता क्या थे अधिक अभिभूत?
पहुँच ही अब तो गये हम लोग,
ठीक कह दो, था उन्हें क्या रोग?"
दूत बोला उत्तरीय समेट---
"कर सका था मैं न प्रभु से भेट।
आप आगे आ रहा जो वीर,
आप हों उसके लिये न अधीर।"
प्राप्त इतने में हुआ पुर-द्वार,
प्रहरियों का मौन विनयाचार।
देख कर उनका गभीर विषाद,
भरत पूछ सके न कुछ संवाद।
उभय ओर सुहर्म्य पुलिनाकार,
बीच में पथ का प्रवाह-प्रसार।
बढ़ चला निःशब्द-सा रथ-पोत,
था तरंगित मानसिक भी स्रोत।
उच्च थी गृहराजि दोनों ओर,
निकट था जिसका न ओर न छोर।
राजमार्ग-वितान-सा था व्योम,
छत्र-सा ऊपर उदित था सोम।
"क्या यही साकेत है जगदीश!
थी जिसे अलका झुकाती शीश।
क्या हुए वे नित्य के आनन्द!

शान्ति या अवसन्नता यह मन्द ?
है न क्रय-विक्रय, न यातायात,
प्राणहीन पड़ा पुरी का गात।
सुन नहीं पड़ती कहीं कुछ बात,
सत्य ही क्या तब नहीं हैं तात ?
आज क्या साकेत के सब लोग,
साङ्ग कर अपने अखिल उद्योग,
शान्त हो बैठे सहज ही श्रान्त ?
दीखते हैं किन्तु क्यों उद्भ्रान्त !
सब कला-गृह शिक्षणालय बन्द,
छात्र क्यों फिरते नहीं स्वच्छन्द ?
हो रहे बालक बँधे-से कीर,
बाल्य ही में वृद्ध-सम गम्भीर !
झिमिट आते हैं जहाँ जो लोग,
प्रकट कर कोई अकथ अभियोग,
मौन रहते हैं खड़े बेचैन,
सिर झुका कर फिर उठाते हैं न।"
चाहते थे जन—करें आक्षेप,
दीखते थे पर भरत निर्लेप।
देख उनका मुख समक्ष समोह,
भूल जाते थे सभी विद्रोह।
"ये गगन-चुम्बिका महा प्रासाद,
मौन साधे हैं खड़े सविषाद।
शिल्प-कौशल के सजीव प्रमाण,
शाप से किसके हुए पाषाण !
या अड़े हैं मेटने को आधि,
आत्मचिन्तन-रत अंचल ससमाधि,
किरणचूड़, गवाक्ष-लोचन मींच,
प्राण-से ब्रह्माण्ड में निज खींच !
सूत, मागध, वन्दि याचक, भृत्य,

दीख पड़ते हैं न करते कूजन।
एक प्रहरी ही, सतर्क विशेष,
व्यक्त करते हैं अशुभ उन्मेष!'
"आगये!" सहसा उठा यह नाद,
बढ़ गया अवरोध तक संवाद।
रथ रुका, उतरे उभय अविलम्ब,
ले सचिव सिद्धार्थ-कर-अवलम्ब।
"हो गये तुम जीर्ण ऐसे तात!
मैं सुनूँगा क्या भयानक बात?
मुँह छिपा सचिवाङ्क में तत्काल,
हो गये चुप भरत आँसू टाल।
सचिव उनको एक बार विलोक,
ले चले, आँसू किसी विध रोक।
"मैं कहूँ तुमसे भयानक बात?
राज्य भोगो तुम जयी-कुल-जात!
भरत को क्या ज्ञात था वह भेद,
तदपि बोले वे सशंक, सखेद—
"तात कैसे हैं?" सचिव की उक्ति—
"पा चुके वे विश्व-बाधा-मुक्ति।"
"पर कहाँ हैं इस समय नरनाथ?"
सचिव फिर बोले उठा कर हाथ—
"सब रहस्य जहां छिपे हैं रम्य,
योगियों का भी वहाँ क्या गम्य?"
"किन्तु उनके पुत्र हैं हम लोग,
मार्ग दिखलाओ मिले शुभ योग।"
"मार्ग है शत्रुघ्न, दुर्गम सत्य,
तुम रहे उनके यथार्थ अपत्य।"
आगया शुद्धान्त का था द्वार,
एक पद था देहली के पार,
"हा पितः!" सहसा चिहुँक, चीत्कार,

गिर पड़े सुकुमार भरत कुमार।
केकयी वद्ध मन्थरा के साथ,
फेरने उन पर लगी झट हाथ।
रह गये शत्रुघ्न मानों मूक;
कण्ठरोधक थी हृदय की हूक।
देर में निकली गिरा—"हा अम्ब!
आज हम सबके कहाँ अवलम्ब!
देखने को तात - शून्य निकेत,
क्या बुलाये हम गये साकेत!"
सिहर कर गिरते हुए से काँप,
बैठ वे नीचे गये मुँह ढाँप।
"वत्स स्वामी तो गये उस ठौर,
लौटना होगा न जिससे और!"
"कौन था हमसे अधिक हा शोक!
वे गये जिसके लिये उस लोक!
हृदय, आशंका हुई क्या ठीक,
हो गई आशा अशेष अलीक!"
"मैं स्वयं पतिघातिनी हूँ हाय!
जीव जीवन मृत्यु का व्यवसाय!"

हा! अमर भी मृत्यु-करगत जीव!
मुक्त होकर भी अधीन अतीव!
किन्तु साधारण न थी वह व्यक्ति,
अतुल थी जिसकी अलौकिक शक्ति।
जीर्ण तुमको जान सहसा तात!
कर गया क्या काल यह अपघात?
तो धरा-धन हो भले ही ध्वस्त,
आर्य हो जाओ तनिक आश्वस्त।
हम करेंगे काल से संग्राम,
हैं कहाँ अग्रज हमारे राम!
"हैं कहाँ वे सजल घन-सम श्याम?"

वन न था हा! किन्तु वह था धाम।
"वन गये वे अनुज-सीता-युक्त"
वन गये?" बोले भरत भययुक्त।
"तो सँभालेगा हमें अब कौन?
यों अनाश्रित रह सका कब कौन?
"आर्य का औदास्य यह अवलोक,
सहम-सा मेरा गया पितृ-शोक!"
"अनुज, ठहरो, मैं लगा दूँ होड़,
रह सकें यदि आर्य हमको छोड़,
जायँ वे इस गेह ही से रूठ
यह असम्भव, झूठ, निश्चय झूठ!
हँस रही यह मन्थरा क्यों घूर?
री अभागिन! दूर हो तू दूर।
भेद है इसमें निहित कुछ गूढ़,
माँ कहो, मैं हो रहा हूँ मूढ़।"
"वत्स, मेरा भी इसी में सार,—
जो किया, करलूँ उसे स्वीकार।
साक्षि हों अनपेक्ष्य मेरे अर्थ,
सत्य कर दे सर्व सहन-समर्थ!
तो सुनो, यह क्यों हुआ परिणाम,
प्रभु गये सुर-धाम, वन को राम।
माँग मैंने ही लिया कुल-केतु,
राजसिंहासन तुम्हारे हेतु।"
"हा हतोस्मि!" हुए भरत हतबोध,
'हूँ!' कहा शत्रुघ्न ने सक्रोध।
ओंठ काटा और पटका पैर,
किन्तु लेता वीर किससे वैर?
केकयी चिल्ला उठी सोन्माद—
सब करें मेरा महा अपवाद;
किन्तु उठ आ भरत, मेरा यार,

चाहता है एक तेरा यार।
राज्य कर, उठ वत्स, मेरे बाल,
मैं नरक भोगूँ भले चिरकाल।
पर कहाँ उद्दण्ड ऐसा दण्ड ?
दण्ड दे, मैंने किया यदि यदि पाप,
दे रही हूँ शक्ति वह मैं आप।"
"दण्ड, ओहो दण्ड, कैसा दण्ड ?
घोर नकरानल चिरन्तन चण्ड,
किन्तु वह तो है यहाँ हिम-खण्ड।
चण्डि ! सुन कर ही जिसे, सातंक,
चुभ उठें सौ बिच्छुओं के डंक,
दण्ड क्या उस दुष्टता का स्वल्प ?--
है तुषानल तो कमल-दल-तल्प !
जी, द्विरसने ! हम सभी को मार,
कठिन तेरा उचित न्याय-विचार।
मृत्यु ? उसमें तो सहज ही मुक्ति,
भोग तू निज भावना की भुक्ति,
धन्य तेरा क्षुधित पुत्र - स्नेह,
खा गया जो भून कर पति - देह
ग्रास करके अब मुझे हो तृप्त,
और नाचे निज दुराशय - दृप्त !"
"चुप अरे चुप, केकयी का स्नेह,
जान पाया तू न निस्सन्देह।
पर वही यह वत्स, तुझमें व्याप्त,
छोड़ता है राज-पद भी प्राप्त।
सब करें मेरा महा अपवाद,
किन्तु तू तो न कर हाय ! प्रमाद।
हो गये थे देव जीवन्मुक्त,
उचित था जाना न ऋण-संयुक्त।
ले लिये इस हेतु वर युग लभ्य,

'क्या लिया' बस है यहीं सब शल्य,
किन्तु मेरा भी यहीं वात्सल्य!"
"सब बचाती हैं सुतों के गात्र,
किन्तु देती हैं डिठौना मात्र।
नील से मुँह पोत मेरा सर्व,
कर रही वात्सल्य का तू गर्व!
खर मँगा, वाहन वही अनुरूप,
देख लें सब—है यही वह भूप!
राज्य, क्यों माँ, राज्य केवल राज्य?
न्याय-धर्म-स्नेह, तीनों त्याज्य!
सब करें अब से भरत की भीति,
राजमाता केकयी की नीति—
स्वार्थ ही ध्रुव-धर्म हो सब ठौर!
क्यों न माँ? भाई, न बाप, न और!
आज मैं हूँ कोसलाधिप धन्य,
गा, विरुद गा, कौन मुझ-सा अन्य?
कौन हा! मुझ-सा पतित-अतिपाप?
हो गया वर ही जिसे अभिशाप!
तू अड़ी थी राज्य ही के अर्थ,
तो न था तेरा तनय असमर्थ।
और भू पर था न कोसल मात्र,
छत्र भागी है कहीं भी क्षात्र।
क्षत्रियों के चाप-कोटि-समक्ष,
लोक में है कौन दुर्गम लक्ष?
था न किस फल का तुझे अधिकार?
सुत न था मैं एक, हम थे चार!
राज सुख है बलि पुरुष का भोग,
मूल्य जिसका प्राण का विनियोग।
स्वार्थिनी तू कर सकेगी त्याग?
राज्य में घर से लगी हा आग।

स्वप्न किसका देखते हैं लोग,
जो तजे लोकार्थ निद्रा-भोग।
किन्तु करके दूसरे का होम,
पान करना चाहती तू सोम।
हाय! ऐसी तो न थी यह बुद्धि,
क्या हुई तेरे हृदय की शुद्धि?
और से करते हुए छल-पाप,
हम छले जाते प्रथम ही आप
सूर्यकुल में यह कलंक कठोर!
निरख तो तू तनिक नभ की ओर।
देख तेरी उग्र यह अनरीति,
खस पड़ें नक्षत्र ये न सभीति!
भरत-जीवन का सभी उत्साह,
हो गया ठंडा यहाँ तक आह।
ये गगन के चन्द्रमणि-मय हार,
जान पड़ते हैं ज्वलित अंगार!
कौन समझेगा भरत का भाव:—
जब करे माँ आप यों प्रस्ताव!
री, हुआ तुझको न कुछ संकोच!
तू बनी जननी कि हननी, सोच!
इष्ट तुझको हत-शासन-नीति,
और मुझको लोक-सेवा-प्रीति।
वेन होता योग्य जिसका जात,
जड़भरत-जननी वही विख्यात!
व्यर्थ आशा, व्यर्थ यह संसार,"
रो दिया, हा मौन राजकुमार।
थे भरे घन-से खड़े शत्रुघ्न,
बरस अब मानो पड़े शत्रुघ्न—
"तुम यहाँ थे हाय! सोदरवर्य,
और यह होता रहा, आश्चर्य!

वे तुम्हारे भुज-भुजंग विशाल,
क्या यहाँ कीलित हुए उस काल ?
राज्य को यदि हम बना लें भोग,
तो बनेगा वह प्रजा का रोग।
फिर कहूँ मैं क्यों न उठ कर ओह !
आज मेरा धर्म राजद्रोह !
विजय में बल और गौरव-सिद्धि,
क्षत्रियों के धर्म-धन की वृद्धि,
राज्य में दायित्व का ही भार,
सब प्रजा का वह व्यवस्थागार।
वह प्रलोभन हो किसी के हेतु,
तो उचित है क्रान्ति का ही केतु।
दूर हो ममता, विषमता, मोह,
आज मेरा धर्म राजद्रोह।
त्याग से भी कठिन जिसकी प्राप्ति,
स्वार्थ की यदि हो उसी में व्याप्ति,
छोड़ दूँ तो क्यों न मैं भी छोह ?
आज मेरा धर्म राजद्रोह।
दो अभीप्सित दण्ड मुझको अम्ब,
न्याय हो शत्रुघ्न का अवलम्ब।
मैं तुम्हारा राज्य-शासन-भार,
कर नहीं सकता यथा स्वीकार।
मानते थे सब जिसे निज शक्ति,
बन गई अब राजभक्ति विरक्ति।
हा ! अराजक भाव, जो था पाप,
कर दिया है पुण्य तुमने आप।
राज-पद ही क्यों न अब हट जाय ?
लोभ मद का मूल ही कट जाय।
कर सके कोई न दर्प न दम्भ,
सब जगत में हो नया आरम्भ।

विगत हों नर-पति, रहें नर मात्र।
और जो जिस कार्य के हों पात्र--
वे रहें उस पर समान नियुक्त,
सब जियें ज्यों एक ही कुल भुक्त।"
"अनुज, उस राजत्व का हो अन्त,
हन्त! जिस पर केकयी के दन्त।
किन्तु राजे राम-राज्य नितान्त—
विश्व के विद्रोह करके शान्त।
रघु-भगीरथ-सगर-राज्य-किरीट,
केकयी का सुत भरत मैं ढीट--
यदि छुऊँ तो पाप-कर गल जाय,
या वहीं अनुपात से जल जाय!
तात, राज्य नहीं किसीका वित्त,
वह उन्हींके सौख्य-शान्ति-निमित्त—
स्वबलि देते हैं उसे जो पात्र,
नियत शासक लोक-सेवक मात्र!"
"आर्य, छाती फट रही है हाय!
राज्य भी अब तो बना व्यवसाय।
हम उसे लें बेच कर भी धर्म,
अतुल कुल में आज ऐसा कर्म।
भ्रातृ-निष्कासन, पिता का घात,
हो चुके दो दो जहाँ उत्पात।
और दो हों—मातृवध, गृहदाह!
बस यही इस चित्त की अब चाह!
पूर्ण हो दुरदृष्ट तेरी तुष्टि!
वीर ने मारी हृदय पर मुष्टि।
उठ भरत ने धर लिया झट हाथ,
और वे बोले व्यथा के साथ—
"हाय! मारोगे किसे हे तात,
मृत्यु निष्कृति हो जिसे हे तात!

छोड़ दो इसको इसी पर वीर,
आर्य-जननी-ओर आओ धीर !,,
युगल कण्ठों से निकल अविलम्ब
अजिर में गूँजी गिरा—"हा अम्ब !"
शोक ने ली अफर आज डकार—
वत्स हम्बा कर उठे डिडकार !
सहन कर मानों व्यथा की चोट,
हृदय के टुकड़े उड़े सस्फोट—
"तुम कहाँ हो अम्ब, दीना अम्ब,
पति - विहीना, पुत्र - हीना अम्ब !
भरत—अपराधी भरत—है प्राप्त
दो उसे आदेश अपना आप्त।
आज माँ, मुझ-सा अधम है कौन ?
मुँह न देखो, पर न हो तुम मौन।
प्राप्त है यह राज्यहारी चोर,
दूर से षडयन्त्रकारी घोर।
आगया मैं गृहकलह का मूल;
दण्ड दो, पर दो पदों की धूल।"
"झूठ—यह सब झूठ, तू निष्पाप;
साक्षिणी तेरी यहाँ मैं आप।
भरत में अभिसन्धि का हो गन्ध,
तो मुझे निज राम की सौगन्ध।
कैकयी सुन लो बहन यह नाद,
ओह ! कितना हर्ष और विषाद !"
पूर्ण महिषी का हुआ उत्संग,
जा गिरा शबरीशरार्त-कुरंग।
"वत्स रे आ जा, जुड़ा यह अंक;
भानुकुल के निष्कलंक मयंक ?
मिल गया मेरा मुझे तू राम,
तू वही है, भिन्न केवल नाम।

एक सुहृदय, और एक सुगात्र,
एक सोने के बने दो पात्र।
अग्रजानुज मात्र का है भेद,
पुत्र मेरे, कर न मन में खेद।
केकयी ने कर भरत का मोह,
क्या किया ऐसा बड़ा विद्रोह?
भर गई फिर आज मेरी गोद,
आ, मुझे दे राम का-सा मोद।
किन्तु बेटा, हो गई कुछ देर,
सो गये हैं देव ये मुँह फेर!
हो गई है हृदय की गति भग्न,
तदपि अब भी स्नेह में हैं मग्न!
देख लो हे नाथ, लो परितोष;
जननियों के जात हैं निर्दोष।"
नाव में नृप किन्तु पाँव पसार,
सुप्त थे भव-सिन्धु के पर-पार।
"हा पिता, यों हो रहे हो सुप्त;
क्या हुई वह चेतना चिरलुप्त?
जिस अभागे के लिये यह काण्ड,
आ गया वह भर्त्सना का भाण्ड!
शास्ति दो, पाओ अहो! आरोग्य,
मैं नहीं हूँ यों अभाषण-योग्य।
त्याज्य भी यह नीच है नरराज,
हो न अन्तिम वचन-वंचित आज!"
"राज्य तुमको दे गये नरराज,
सुत, जलांजलि दो उन्हें तुम आज!
दें तुम्हें क्या वत्स, मेरा प्यार?
लो तुम्हीं अन्त्येष्टि का अधिकार।
राज्य-" "हा! वह राज्य बनकर काल,
भरत के पीछे पड़ा विकराल!

यह अराजक उग्र आज नितान्त,
प्राण लेकर भी न होगा शान्त।"
"वत्स, धीरे, कठिनता के साथ,
सो सके हैं, छटपटा कर नाथ!
हो न जावे शान्ति उनकी भंग,
धर्म पालो धीरता के संग।
संगिनी इस देह की मैं नित्य,
साक्षि हैं ध्रुव, धरणि, अनिलादित्य।
सुत, तुम्हारे भाव ये अविभक्त,
मैं स्वयं उन पर करूँगी व्यक्त।"
"हाय! मत मारो मुझे इस भाँति,
माँ, जियो, मैं जी सकूँ जिस भाँति।
मैं सहन के अर्थ ही, मन-मार,
वहन करता हूँ स्वजीवन-भार।
मैं जियूँ लोकापवाद-निमित्त,
तब न होगा तनिक प्रायश्चित्त?
तुम सभी त्यागो मुझे यदि हाय!
तो मरूँ मैं भी न क्यों निरुपाय?
आर्य को तो मुँह दिखाने योग्य,
रख मुझे ओ भाग्य के फल भोग्य।"
शोक से अति आर्त, अनुज समेत,
भरत यों कह हो गये हतचेत।
लोटता हो ज्यों हृदय पर साँप,
सभय कौशल्या-सुमित्रा काँप—
हाय कर, करने लगीं उपचार—
व्यजन, सिञ्चन, परस और पुकार।
भ्रातृ युग सँभले नयन निज खोल,
पर सके मुँह से न वे कुछ बोल।
देख सुत-हठ और वंश-अरिष्ट,
कह न माँएँ भी सकीं निज इष्ट।

आ गये तब तक तपोव्रतनिष्ठ,
राजकुल के गुरु वरिष्ठ वसिष्ठ।
प्राप्त कर उनके पदों की ओट,
रो पड़े युग बन्धु उनमें लोट—
"क्या हुआ गुरुदेव, यह अनिवार्य ?"
"वत्स अनुपम, लोक-शिक्षण - कार्य।
त्याग का संचय, प्रणय का पर्व,
सफल मेरा सूर्यकुलगुरु - गर्व।"
"किन्तु मुझ पर आज सारी सृष्टि,
कर रही मानों घृणा की वृष्टि।
देव, देखूँ मैं किधर, किस भाँति ?"
'भरत, तुम आकुल न हो इस भाँति।
वत्स, देखो तुम पिता की ओर,
सत्य भी शव-सा अकम्प कठोर!
और उनका प्रेम - ओघ अभग्न,
वे स्वयं जिसमें हुए चिरमग्न!
और देखो भ्रातृवर की ओर,
त्याग का जिसके न ओर, न छोर।
अतुल जिसकी पुण्य पितर-प्रीति--
स्वकुल-मर्यादा, विनय, नय-नीति।
और उस अग्रज-वधू की ओर,
वत्स, देखो तुम निहार--निहोर।
हाँ जिसे वे गहन-कण्टक-शूल,
बन गये गृह-वाटिका के फूल!
और देखो उस अनुज की ओर,
आह! वह लाक्ष्मण्य कैसा घोर!
वह विकट व्रत और वह दृढ़ भक्ति,
एक में सबकी अटल अनुरक्ति।
और देखो इस अनुज की ओर,
हो रहा जो शोक - मग्न विभोर,

आज जो सबसे अधिक उद्भ्रान्त,
सुमन - सम हिमवाष्पभाराक्रान्त !
वत्स, देखो जननियों की ओर,
आज जिनकी भोग-निशि का भोर !
"हाय भगवन् ! क्यों हमारा नाम ?
अब हमें इस लोक में क्या काम ?
भूमि पर हम आज केवल भार,
क्यों सहे संसार हाहाकार ?
क्यों अनाथों की यहाँ हो भीड़ ?
जीव - खग उड़ जाय अब निज नीड़ ।"
"देवियो, ऐसा नहीं वैधव्य,
भाव भव में कौन वैसा भव्य ?
धन्य वह अनुसार निर्गत - राग,
और शुचिता का अपूर्व सुहाग ।
अग्निमय है अब तुम्हारा नाम,
दग्ध हों जिसमें स्वयं सब काम ।
सहमरण के धर्म से भी ज्येष्ठ,
आयु भर स्वामि - स्मरण है श्रेष्ठ ।
तुम जियो अपना वही व्रत पाल,
धर्म की बल - बुद्धि हो चिरकाल ।
सहन कर जीना कठिन है देवि,
सहज मरना एक दिन है देवि !
भरत, देखो आप अपनी ओर,
निज हृदय-सागर गभीर हिलोर ।
पूर्ण हैं अगणित वहाँ गुण-रत्न,
अमर भी जिनके लिये कृतयत्न ।
भरत-भावामृत पियें जन जाग,
मोह - विष था केकयी का भाग ।
वत्स, मेरी ओर देखो, ओह !

मैं सगद्गद हूँ, यदपि निर्मोह !
रो रहे हो तुम, परन्तु विनीत,
गा रहे हैं सुर तुम्हारे गीत।
प्राप्त अपने आप ही यह राज्य,
कर दिया तृण-तुल्य तुमने त्याज्य।
भति यहाँ शत्रुघ्न, मेरी मौन,
तुम कि लक्ष्मण, अधिक सुकृती कौन।
अब उठो हे वत्स, धीरज धार,
बैठते हैं वीर क्या थक-हार?
शत्रु शर-सम तुम सहो यह शोक,
सतत कर्मक्षेत्र है नरलोक।
कर पिता का मृत्युकृत्य अपत्य,
लो क्रमागत गोत्र-जीवन-सत्य।
मरण है अवकाश, जीवन कार्य,
कह रहा हूँ आप मैं आचार्य।
व्याप्त हैं तुममें पिता के प्राण,
शोक छोड़ो शूर पाओ त्राण।
हम रुकें क्यों, चल रही है साँस,
गति न बिगड़े, दे नियति भी आँस।
विघ्न तो हैं मार्ग के कुश काँश,
फँस न जावे इस हृदय में फांस।
तात, जीवनगीत सुनकर काल,
नाचता है आप, देकर ताल।
सुगति होती है तभी यह प्राप्त,
प्रलय में भी लय रहे निज व्याप्त।
उठ खड़े हों निज पदों पर आज,
धैर्य धारें स्वजन और समाज।
वीर देखो, उस प्रजा की ओर,
चाहती है जो कृपा की कोर।

सान्त्वना में शोक की वह रात,
कट चली, होने लगा फिर प्रात।
दूर बोला ताम्रचूड़ गभीर--
'क्रूर भी है काल निर्झर-नीर।'
अरुण-पूर्व उतार तारक-हार,
मलिन-सा सित-शून्य अम्बर धार।
प्रकृति-रञ्जन हीन, दीन अजस्र
प्रकृति-विधवा थी भरे हिम-अस्र

डाक्टर बलदेवप्रसाद मिश्र

# पादुका-अर्पण

( साकेत सन्त से

हुआ सवेरा आखिर भू पर,
मिले सभी यह निश्चय लेकर।
आज एक निर्णय हो जाये,
जाय प्रजा अपने अपने घर।
इतने में रघुवर भी आये,
गुरु को साभिप्राय विलोका।
कैकेयी ने बुलवा भेजा,
बोली, दुःख सहित पथ रोका॥
"मैं हतभागिन अब क्या माँगू,
माँग, माँग का सेंदुर मेटा।
विनय यही है, अब हम सबकी,
लाज तुम्हारे हाथों बेटा!!
चलो दया कर अवध, भरत को,
प्राणों का मिल जाय सहारा।
मुझे विदित है, मुझसे कितना—
अधिक भरत है तुमको प्यारा
साथ सबों के यदि न चलोगे
आज द्वार पर धरना दूँगी।

इन पापी प्राणों को धारण,
कर घर में क्यों और मरूँगी।
प्रायश्चित्त करूँगी वन में,
जिससे क्षमा तुम्हारी पाऊँ।
तुम 'माँ' कह मुझसे फिर लिपटो,
मैं 'लल्ला' कह बलि बलि जाऊँ॥

प्रभु बोले, 'तुम मेरी मैया,
जो आज्ञा वह सिर-माथे पर।
तुम्हें नहीं शोभा देता है,
इस विध होना दुख से कातर।
माँ, भरना दुर्बल का बल है,
तुम सबला हो, तुम माता हो,
राम उसी पथ का अनुगामी—
भैया भरत जिधर जाता हो॥

धैर्य धरा कर बाहर आये,
देखी भरी सभा मुनियों की।
अवध और मिथिला सचिवों की,
नीति-दर्शियों की, गुणियों की।
बैठ गये श्रीराम विनत हो;
पल भर को सन्नाटा छाया।
चला विचार कि करे सभा में—
कौन कहाँ से अथ मनभाया॥

बोल उठे जावालि मुनीश्वर,
"मैंने जो सोचा समझा है।
और जगत के अथ का इति का,
मुझको जो कुछ मिला पता है।
उसके बल पर कह सकता हूँ,
राम! न आई लक्ष्मी टालो।
नर प्रभुता से प्रभु होता है,
प्रभुता यदि मिल रही, सँभालो॥

इस प्रभुता के हेतु, न जाने,
कहाँ कहाँ है छिड़ी लड़ाई।
इस प्रभुता के हेतु भिड़ पड़ा,
इस जग में भाई से भाई।
किन्तु वही प्रभुता लौटाने,
आज एक भाई जब आया।
बड़ी भूल होगी यदि तुमने,
उसे न सुख से गले लगाया।
दुनिया में जब सब नश्वर है,
'यथापूर्व' जब बन्धन--माला—
किसकी है अत्यन्त-मुक्ति फिर,
किसके यश का अमिट उजाला।
बँधा न जो आदर्शवाद से,
परलोकों का ध्यान न लाता—
हाय, हाय से मुक्त सदा जो,
मुक्त वही जीवन कहलाता॥

ग्रन्थों के बहुपन्थ फँसाते,
मनुज-बुद्धि कोरी उलझन में।
जीवन का रस कहीं मिला है,
उन सूखे रेतों के कन में!
मरे सभी परलोक-विचारक,
मरे सभी सच्चित्-अवतारी।
जिया वही, जिसने इस जग में,
मस्ती से निज आयु सँवारी॥

दो दिन का तो यह जीवन है,
वह भी तप ही करते बीते?
तप वे बेचारे करते हैं—
जिनको भोगों के न सुभीते
यौवन की ये नयी उमंगें,
दुनिया से उफ़! दूर न भागो,

ईश्वरता के सुख तो भोगो
इस नन्दन में कुछ तो जागो ॥
औरों को न सता कर भी है,
निभ सकती मनमानी भू पर।
बस सकते हैं इन्द्रिय-सुख भी—
टिक कर सदा न्याय के ऊपर।
न्याय्य राज्य का भोग तुम्हारा,
पास तुम्हारे जब यों आया।
कौन तुम्हें तब सुज्ञ कहेगा,
यदि तुमने उसको ठुकराया ॥
प्रकृति, पुरुष के लिये भोग्य बन,
नित्य नयी छवि है दिखलाती।
शब्द, स्पर्श, रूप, रस, सौरभ,
के पंचामृत-पात्र सजाती।
सबको मिले सुधा-सुख मंजुल,
राजा वह सुविधा लाता है।
इसीलिये भोगों का भाजन,
जग का इन्द्र कहा जाता है ॥
सुख-सुविधा-साधन देती है,
एक गाँव की भी ठकुराई।
तुमने तो उत्तर कोसल की
अनुपम चक्रवर्तिता पाई।
ऐसे महाराज होकर भी,
यदि तुम हो यों वल्कलधारी।
और न कुछ कह यही कहूँगा—
आह ! गई है मति ही मारी ॥
गई पिता के साथ वरों की,
कथा, अम्ब की बातें मानों।
धर्म-तत्व कहता है, सुख ही,
एक ध्येय जीवन का जानो।
यदि इच्छा ही है कि वनों में,

निज को काँटों से उलझालो।
कहाँ तुम्हें अधिकार कि तुम,
वैदेही को भी दुख में डालो॥
लौकिक पक्ष प्रकट करने में,
थे जावालि प्रसिद्ध धरा पर।
आस्तिक कहे कि नास्तिक कोई,
उन्हे न थी चिन्ता रत्ती भर।
पर वैदेही की चर्चा का,
उनने जो था तीर चलाया।
उसने स्मृति-कर्ता मुनिवर को;
तत्व-कथन-हित विवश बनाया॥
कहा अत्रि ने अतः कि 'अपना'
सुख दुख वैदेही ही जानें।
हमें चाहिये हम तो केवल,
नीति तत्व की बात बखानें।
क्योंकि नीति पर सपद् ही क्यों,
निश्चित टिका समग्र जगत् है।
और जगत जीवन दोनों का,
अंतिम ध्येय अखंडित सत् है॥
राम! विदित है मुझे कि तुमको,
वन-विहरण कितना भाता है,
राम! विदित है मुझे कि तुमसे।
स्थल यह कितना सुख पाता है!
तुमने ऐसी ज्योति जगा दी,
वन्यों के गांवों गांवों में।
एक अहिंसक क्रान्ति आप ही,
जाग उठी सबके भावों में॥
शौर्य, शील, सौंदर्य तुम्हारे,
बरबस सबके मन हरते हैं।

भारत का एका करते हैं।
तुमने बद्ध हुई आ आकर,
ऋषियों की वाणी कल्याणी।
हुए अनार्य्य आर्य्य-सम्मानित,
तरी पतित नारी पाषाणी।
राम ! विदित है मुझे सभी वह,
किधर तुम्हारी रुचि जाती है।
किससे हृदय सुखी होता है,
किस पर चित्त वृत्ति छाती है।
किन्तु चाहता हूँ मैं, कोई,
कह न सके यह कहने वाला।
तुमने तन या मन के सुख को,
कर्तव्यों का पथ दे डाला॥
नृप इस जग में सर्वोपरि है,
पर विधान से बँधा हुआ वह।
स्मृतिकारों के नियमों पर ही,
भली भांति है सधा हुआ वह।
उसे नहीं अधिकार कि पैतृक,
राज्य जिसे चाहा दे डाला।
उसे नहीं अधिकार, किसी को,
जब चाहे दे देश-निकाला॥
दशरथ नृप ने अनधिकार--मय
वह अधिकार कहाँ दिखलाया ?
रानी ने था क यंत्र से,
बिना विचारे 'हाँ' कहलाया।
बिखर गया वह यंत्र विचारा,
अपनी ही 'हाँ' के उस स्वर में।
और भर गया 'ना' की गरिमा,
रानी के भी उर अन्तर में।
उस 'हाँ' की कीमत ही कितनी,

अपर महामुनि ने सत्पथ की
स्मार्तप्रथा उपयुक्त विचारी ॥
चित् को अन्तिम लक्ष्य मान कर,
मैं भी उसी बात पर आया।
राम! करो वह काम, रहे आदर्श,
रहे पर, लोक-सुहाया!
भला किया जो वचन मान कर,
तुमने तब गृह-कलह बचाई।
राज बचा लो वचन मान कर
आज, खड़ा है सन्मुख भाई ॥
यही बड़ा आश्चर्य कि अब तक,
क्यों न अवध पर अरिगण टूटे।
यह न किसी को कांक्ष्य, विदेशी
आकर अपनी लक्ष्मी लूटे।
आर्यावर्त्त-अधीश्वर भटके
वन वन तापस वेश उदासी।
अखिल प्रजा में क्या अनार्य, फिर,
होगा शुचि आर्यत्व-विकासी? ॥
पिता सदा सम्मान्य पुत्र का,
अटल जनक-आदेश बड़ा है।
किन्तु पिता से भी बढ़ कर, उस
जगत्-पिता का देश बड़ा है।
सीमा से सद्वृत्त बढ़े जो,
दुर्वृत्तों सा त्याज्य हुआ वह।
किन वचनों पर मन अटकाना,
जब कि अराजक राज्य हुआ यह ॥
ब्राह्मण राज्य तपोवन में है,
क्षत्रिय राज्य पुरों में सीमित।
वैश्य राज्य लंका में सुनते,
शूद्र राज्य गांवों में निर्मित।

चारों की अपनी महिमा है,
राज्य न हो, पर, राज्य-विहर्ता।
मुझे जान पड़ता है, तुम हो
चातुर्वर्ण्य —— समन्वय—— कर्त्ता ॥
सत्य महा महिमा-शाली है,
तात--प्रतिज्ञा पूर्ण निभाओ।
पर शासन की सिद्ध शक्ति भी,
मत अपनी यों व्यर्थ बनाओ।
दण्डक के ही किसी गांव में,
अवध-राजधानी बस जावे।
चौदह वर्षों तक इस ही विधि
देश निदेश तुम्हारे पावे ॥
राज्य व्यक्ति का या कि वर्ग का,
राज्य प्रजा का या राजा का।
चर्चा ही है व्यर्थ, क्योंकि वह
है त्रिभुवन के अधिराजा का।
जितना जिसको न्यास मिला है,
उचित है कि वह उसे सँभाले।
और अन्त में उज्ज्वल मुख से,
जिसकी वस्तु उसे दे डाले ॥
घर में, वन में, या कि राज्य में,
बँध कर रह जाना न भला है।
सत्य सरीखे नियमों में भी,
फँस कर रह जाना न भला है।
त्याग — भावना—— भरे हुए हों
लोक--संग्रही धर्म हमारे।
जीवन कर्मशील हो, पर हों—
ब्रह्मार्पण ही कर्म हमारे ॥

सुलझे घर के साथ-साथ ही
भारत भर की आज समस्या।
सिद्धि वरण करती है उनको–
स्वतः विवेक और विनयों की।
जो चलते हैं इस दुनिया में
बात जान कर चार जनों की॥
सन्नाटा छा गया सभा में,
मृदु स्वर से तब रघुवर बोले,
"मैं हूँ धन्य कि पूज्य पधारे,
नीति धर्म जिनने सब तोले।
जैसा हो आदेश सबों का,
सुख से शीश चढ़ाऊँगा मैं।
उधर पिता हैं, इधर आप हैं;
दुःख कहाँ फिर पाऊँगा मैं॥"
सन्नाटा फिर हुआ सभा में,
उधर राम थे, इधर भरत थे।
और बीच में भरे अनेकों
प्रेम और नियमो के व्रत थे।
असमंजस में विज्ञ पड़े सब,
कौन 'एक आदेश' सुनायें–
जिससे शील उभय पक्षों के
और न्याय-निर्णय निभ जायें॥
गुरु वशिष्ठ ने भाव टटोले,
और सुनाया सब का निर्णय।
"धन्य तुम्हें है राम! हमारे
हित तुमने त्यागा निज निश्चय।
पर हम केवल यही चाहते,
पूरी करो भरत—अभिलाषा।
उनकी ही अन्तर्भाषा में,
निहित हमारी सब की भाषा॥

भरत जिधर थे उधर सबों की
उत्सुक आँखें बरबस धाईं।
दौड़े इतने भाव, न सकीं
संभाल, भरत आँखें भर आईं।
चढ़ा दृगों में ज्वार, और,
मुख के रंगों पर भाटा छाया।
लहरों ने टकरा टकरा कर,
उर-सागर में तुमुल मचाया॥
'विषम कलंक मिटाने का हठ,
और विविध शंकाएं सब की।
प्रभु को फिर लौटा लाने की,
खरतर आकांक्षाएं कब की।
एक ओर साकेत-स्वार्थ है,
स्वार्थ भरत का जिसमें पूरा।
और दूसरी ओर कार्य है
प्रभु का, जो अब भी कि अधूरा॥
इधर अड़ा कर्तव्य अटल सा,
उधर प्रेम की आँखें तर हैं।
सेवक-धर्म और प्रभु इच्छा,
समझ सके क्या नागर नर हैं?
प्रभु का हो सान्निध्य सदा ही,
इससे बढ़ सुखकोष कहाँ है।
इस सुखकोष-याचना में, पर,
प्रभु का ही सन्तोष कहाँ है॥
कल की वह गुरुतर प्रभु वाणी,
आज त्रिरत्नों की चर्चा यह।
प्रभु इच्छा ही सेवक-कृति हो,
मानी हुई भक्ति-अर्चा यह।
भरद्वाज संकेत मार्ग का,
गाँवों की शासन-शैली वह।

एक — समन्वित — राष्ट्र — अभिमुखी,
वन्य जाति भू पर फैली वह ॥
चलचित्रों सी क्रमशः आईं,
और गईं ऐसी बहु बातें ।
आखिर हठ की सब चालों ने,
खाईं पूरी पूरी मातें ।
प्रेम, विनय, नय--निष्ठा ने मिल,
दिया सहारा उन्हें उठाया ।
शांत हुईं अंतर की लहरें,
शब्द--स्रोत वढ़ बाहर आया ॥
दृगों दृगों सब को प्रणाम कर,
नीचे ही दृग अपने डाले ।
स्नेह--सिंधु को उर में रोके,
और कण्ठ पर गिरा सँभाले,
पल--पल में रोमांच आर्द्र कर,
शब्द शब्द में भर स्वर कातर ।
बोले भरत, समुत्थित होकर
कर्तव्यों की असिधारा पर ॥

"गुरुजन के रहते मैं बोलूँ ?
आह ! दुसह यह भार उठाऊँ !
निज अभिलाषाओं का
अपने हाथों ही संहार रचाऊँ ?
किन्तु हुआ आदेश, विवश हूँ
उर पर सौ-सौ वज्र, सहूँगा ।
जिसे न सपने में चाहा था,
इस मुख से वह बात कहूँगा ॥

मुझ अनुचर की अभिलाषा क्या,
प्रभु—इच्छा अभिलाषा मेरी ।
प्रभु को जो सङ्कोच दिलावे,
कभी न हो वह भाषा मेरी ।

जान चुका हूँ प्रभु की इच्छा,
पथ विपरीत गहूँ मैं कैसे।
रोम-रोम जिसको कहता था,
अब वह बात कहूँ मैं कैसे॥
अवध और मिथिला के वासी,
सकल परिस्थिति देख रहे हैं।
प्रभु का विश्वरूप, वन्यों की
जागृति में वे लेख रहे हैं।
मुनियों ने, मिथिलेश्वर ने,
जो निर्णय का संकेत बताया।
मानूँगा मैं धन्य स्वतः को,
उतना भी यदि प्रभु को भाया॥
सानुकूल स्वामी हैं सन्मुख,
और कलङ्क धुला है सारा।
किन्तु कठोर धर्म सेवक का,
जिससे स्वार्थ सभी विध हारा।
उनकी इच्छा है कि अवध में,
मैं विरहातुर दिवस बिताऊँ।
तब मैं कैसे कहूँ, चलें वे
अवध, कि मैं ही वन को जाऊँ॥

शशि ने जल में लहर उठाकर,
खींचा, सागर में बिखराया।
प्रभु ने भाव दास के उर का
खींचा, जग भर में बिखराया।
पर अब उन बिखरे भावों में,
शशि ही निज शीतलता छाये।
उर तो उर-प्रेरक का चेरा,
वह दुख दे या सुख पहुँचाये॥
आया था अपनी इच्छा से,
जाऊँगा प्रभु-इच्छा लेकर।

मैंने क्या क्या आज न पाया,
इस वन में अपनापन देकर।
राज्य उन्हीं का यहाँ वहाँ भी,
मैं तो केवल आज्ञाकारी।
चौदह वर्ष धरोहर सँभले,
बल-संबल पाऊँ दुखहारी॥
चरण-पीठ करुणा-निधान के,
रहें सदा आँखों के आगे।
मैं समझूँगा प्रभु-पद-पंकज
ही हैं सिंहासन पर जागे।
उनसे जो प्रेरणा मिलेगी,
तदनुकूल सब कार्य करूँगा।
उन्हें अवधि-आधार जानकर,
उन पर नित्य निछावर हूँगा॥
आशीर्वाद मिले वह जिससे,
प्रभु में जीवन-स्रोत मिला लूँ।
उनके लिये उन्हीं की चीज़ें,
पा उनका आदेश, सँभालूँ।
फूले फले जगत् यह उनका,
इसीलिये, बस, प्यार करूँ मैं।
और अवधि ज्यों ही पूरी हो,
सारा भार उतार धरू मैं॥

बढ़े राम झट गद्गद् होकर,
लिपटा लिया दीर्घ बाहों में।
मौन भरत भावों से झुककर,
बिखर पड़े अपनी आहों में।
उन पीठों पर सुर-सुमनों से,
बरसे स्नेह--सुधामय मोती।
जिनकी ज्योति न जाने कब तक,
रही सबों के हृदय भिगोती॥

उसके बाद एक दिन को भी,
मुझे न वन में रहने देंगे ॥
मुझे परम सन्तोष इसी में,
रख ली मेरी लाज उन्होंने।
इस खूबी से आज सुधारा,
सब लोगों का काज उन्होंने।
आशीर्वाद आप सब का हो,
जिसका बल हम दोनों पायें।
अपने अपने स्थानों में रह,
अपने अपने कार्य निभायें ॥
निज इच्छाओं पर शासन कर,
अंग बनें सब उस शासन के।
जग में बिखरे विविध राज्य हों —
जिस सुन्दर माला के मनके।
और धर्म का सुदृढ़ सूत्र हो,
उनके उर में सदा समाया।
दानों का व्यक्तित्व निभाकर
जो एकत्व रचे मन-भाया ॥
विश्व-पुरुष की इच्छा से ही,
मैंने दक्षिण का वर पाया।
वह दक्षिण जो परम-भयानक,
वह दक्षिण जो रहा पराया।
भैया ! तुमने योग दिया जो,
उसने देश--दुखों को कीला।
आज वाम से दक्षिण होगा,
दक्षिण का वह पथ कँकरीला ॥
दक्षिण यम की दिशा बनी थी,
संयम की वह दिशा बनेगी।
दण्डक थे हम सबके पूर्वज,
उनकी नगरी पट पलटेगी।

भारतीयता होगी जब तक
जग होगा तब तक नीरोगी।
जग -- नैरुज्य -- वती मानवता,
फिर से इस भू पर छा जावे।
जो जिस थल पर हुआ नियोजित,
वह उस थल से सुख पहुँचावे॥
'धन्य-धन्य' कह उठे सभासद,
'यह निर्णय जग—गति बदलेगा।
इस निर्णय को स्वर्णाक्षर में
निज उर पर इतिहास लिखेगा।
मथा साधुमत, मथा लोकमत,
निगमागम-नृप-नीति निचोड़ा।
इस निर्णय ने उस निचोड़ को
विमल विश्व--समुदय से जोड़ा॥

चले जहाँ से भरत, वहीं मन से फिर आये,
जग छोड़ा था, पुनः उसी में गये रमाये।
दिनचर्या में किन्तु दृष्टि का था वह अन्तर,
अवनी अम्बर हुई, और अवनी था अम्बर॥

रामचरित उपाध्याय

# वालि-बध

( रामचरित चिन्तामणि से )

गये जहाँ पर्वत ऋष्यमूक था; उदास हो लक्ष्मण, राम चित्त में।
हुआ बड़ा व्यग्रह उन्हें विलोक के, सशंक सुग्रीव अधैर्य-भीत हो॥
सशंक बोला कपिराज काँपता, मनो महा आतुर देख काल को।
अभी चला जा हनुमान तू वहाँ पता लगा तो नर-युग्म कौन है॥
बना महा सुन्दर रूप भिक्षु का, गये हनुमान विवेकधी वहाँ।
किया उन्हें दण्ड प्रणाम नम्र हो, कपीश ने, सादर प्रश्न भी किया॥

"कौन लोग हैं आप यहाँ पर आए कैसे?
हरि-हर ने नर-रूप किया है धारण जैसे।
नाम सहित निज धाम मुझे क्या बतलावेंगे?
क्या है वन में काम, मुझे क्या बतलावेंगे?

अति कोमल तन, बाना कठिन, जटा मुकुट धारण किये।
क्या बाली ने भेजा तुम्हें? घूम रहे हो किस लिये?॥

रहते हैं सुग्रीव प्रभो! इस गिरि के ऊपर;
उनका साथी अन्य नहीं है कोई भू पर।
चल कर मिलिये अभी उन्हीं से आप कृपानिधि;
सुख पावेंगे आप, उन्हें सुख देकर सब विधि॥

मैं दूत उन्हीं का हूँ बना हनूमान मम नाम है।
अब चलिये देर न कीजिये वह गिरि शोभाधाम है॥"

अपना देकर नाम पता फिर गये वहाँ पर,
बैठा था सुग्रीव कोपता हुआ जहाँ पर।
मिले परस्पर आत्म-कथा दोनों ने गाई;
दोनों में प्रण-सहित प्रेम से हुई मिताई॥
फिर छिप कर मारा रामने बाली को निज हाथ से।
मति किसकी है बदली नहीं हा जघन्य के साथ से!॥

गिरा राम का बाण खा भूमि बाली; मनो आ गिरा व्योम से अंशुमा
खड़ा राम को देख बाली न डोला; बड़ी धीरता से हँसा और बोल
"छली आप सा भी अनोखा न होगा; मिले हा! तुम्हें देख धोखा न हो
तुम्हें राम! धर्मज्ञ, नीतिज्ञ कैसे, सभी मानते हैं त्रिकालज्ञ कैसे
तृणों से ढका कूप जैसे खड़ा हो; छिपा भस्म में अग्नि जैसे पड़ा
उसी भाँति क्यों राम झूठे बने हो? छली हो, तपस्वी अनूठे बने
उदासीन से द्रोह जो हैं दिखाते; महा नीच से मोह जो हैं दिख
उन्हें दुःख होगा, उन्हें पाप होगा; उन्हें नित्य सर्वत्र सन्ताप हो
छली आपके बाप थे आप ही से; पड़े वे बड़े दुःख में शाप ही
बकों से नहीं हंस उत्पन्न होंगे; नहीं सर्प पीयूष-सम्पन्न हों
पड़े आप सुग्रीव की बात में क्यों? वृथा जा गिरे पाप-संघात में
मिले क्यों नहीं आप आ के हमी से; दुखी राम हो ज्ञान ही की कमी
अभी जानकी का पता मैं लगाता; अभी आप के शत्रु को बाँध ल
मुझे व्यर्थ जो आज मारा न होता; भला काम कैसे तुम्हारा न हो
तुम्हें क्यों न हो राम सुग्रीव प्यारा, उसी सा बुरा हाल है जो तुम्ह
मिलेगा कभी निर्बली क्यों बली से? सदा प्रीति होगी छली को छली
मुझे मार के क्या यशस्वी बने हो? धनुर्बाण ले क्या तपस्वी बने
छिपे क्यों न रहते भले धर्मवाले, बने क्यों न रहते बुरे कर्मवा
दिवानाथ के वंश में आप हो के; कुकर्मी बने क्यों स्वसद्धर्म खो
उदासीन को मारना क्या भला है; पढ़ी आपने क्या खलों की कला
न गो-विप्र के पालना को करे जो; वृथा अन्य के प्राण को भी हरे
उसे नारकी जन्तु मैं जानता हूँ; तुम्हें छद्म का सद्म मैं मानता
कहो राम मैंने तुम्हारा लिया क्या? तुम्हें कष्ट मैंने कभी भी दिया
मुझे मार के क्यों नहीं हो लजाते; कहीं जा किसी कूप में डूब ज

बड़े गौरवों की क्षमा-युक्ति होते, वशीभूत क्यों होगये इन्द्रियों के ?
वृथा आप क्यों शस्त्र को धारते हो ? बिना दोष क्यों वन्य को मारते हो ?
पिता ने तुम्हें गेह से जो निकाला; बुरा क्या किया सत्य सद्धर्म पाला।
तुम्हारे कहीं राज्य जो हाथ आता; महा दुःख संसार सारा उठाता॥
सती दुष्ट का साथ पा क्यों न रोवे; दुखी भी अनी भूप से क्यों न होवे।
न अन्याय से चूकते हो अभी भी; तुम्हें राज्य कैसे मिलेगा कभी भी॥
अमर्याद हो, भीरु हो, अज्ञ भी हो; नहीं वीर या धीर धर्मज्ञ भी हो।
मुझे व्याध की भाँति क्यों मार डाला ? तुम्हें क्या न होगा उठाना कसाला ?
सभी भाँति सुग्रीव से हूँ बड़ा मैं; बड़े क्रूर के किन्तु पाले पड़ा मैं।
दिया फेंक सोना; लिया व्यर्थ कांसा ! किया आपने धन्य ! ऐसा तमाशा॥
हुई हानि क्या ? बन्धु ही राज्य लेगा; तुम्हें क्या मिला हा ! जगत् दोष देगा।
गई भी नहीं, साथ मे भी न आई; यहाँ ही रहेगी बुराई भलाई॥"
"कपे ! बोलना भी न आता तुझे है; अरे ! व्यर्थ क्यों दोष देता मुझे है ?
कभी धर्म—आदेश तू ने न माना; सदाचार का तत्व तू ने न जाना॥
यहाँ का महीपाल है बन्धु मेरा; यहाँ पापियों का न होगा बसेरा।
वही है यहाँ का मुझे स्वत्व दाता; बुरे कर्म का दण्ड क्यों तू न पाता॥
सभी धर्म को मूढ़ क्या जानते हैं; बुरे को भला मूढ़ ही मानते हैं।
बता पाप तूने किया क्या नहीं है ? जिसे मान ले तू वही क्या सही है॥
बुरी दृष्टि से क्यों रुमा को विलोका ? अहो ! चित्त को मूढ़ ! तूने न रोका।
इसी से मिला है तुझे दण्ड ऐसा; नहीं सोचता क्यों किया पाप कैसा॥
अघी को महा दण्ड मैं जो न दूँगा; बता क्या न मैं पाप भागी बनूँगा ?
सदा न्यायकारी सुखी हो रहेगा; अधर्मी सदा ही दुखी हो रहेगा॥
शिकारी नहीं चूकते हैं निशाना; उन्हें चाहिये सावजों को फँसाना।
तुझे लक्ष्य मैंने बनाया इसी से; नहीं पाप होगा छिपा मैं ख़ुशी से॥

भला या बुरा तू किसी भांति का हो, नखी वन्य हो तू किसी जाति का हो।
बना लक्ष्य तू बाण का आज मेरे; सभी हो गये व्यर्थ दुर्वाक्य तेरे।
प्रतिज्ञात था मारना दुष्ट तेरा; कभी जायगा व्यर्थ क्यों वाक्य मेरा।
जिसे प्राणप्यारी प्रतिज्ञा नहीं है; अभागा वही है, अधर्मी वही है॥
मुझे धर्म जो आपने है सुनाया; नरों के लिये ही गया है बनाया।
उसे वानरों ने न माना कभी है; उसे पामरों ने न जाना कभी है॥

कभी भी नहीं धर्म का भक्त मैं हूँ; स्मृतित्यक्त हूँ, काम-आसक्त मैं हूँ।
मुझे ज्ञान देने लगे आप कैसे? नहीं ज्ञानदाता कभी आप ऐसे॥
हमारा कभी मांस कोई न खाता; किसी के नहीं चाम भी काम आता।
मुझे मारके क्या शिकारी बने हो, दुखारी बने हो, भिखारी बने हो॥
बुरा से बुरा बात का छोड़ना है; बुरा मीत से प्रीति का तोड़ना है।
सुनो राम! मैं भी इसे मानता हूँ; सदा सत्य ही बोलना जानता हूँ॥
प्रतिज्ञा विचारे बिना जो करेगा; तुम्हीं-सा वही शीघ्र नीचे गिरेगा।
कभी धर्म से मारना है न मेरा; कभी भी सही हारना है न मेरा॥
न अच्छा किया आप ने जो किया है; बिना हेतु ही प्राण मेरा लिया है।
प्रभो! आप तारेय को पालियेगा; उसे भी नहीं दुःख में डालियेगा॥"
हुई व्यग्र तारा गिरा देख पति को; सम्भाला किसी भाँति उसने स्वमति को।
कपीशांग से हो गया प्राण न्यारा, उड़ा मर्त्य से, स्वर्ग सीधे सिधारा॥
हुआ कर्म से शुद्ध सुग्रीव ज्यों ही; उसे दे दिया राम ने राज्य त्यों ही।
नहीं राम का काम कोई वहाँ था; गये प्रश्रवण नाम ग्रावाँ जहाँ था॥
वहीं राम सानुज लगे नित्य रहने; किसी दिन अनुज से लगे राम कहने।
दिवस जा रहा था, निशा आ रही थी; बड़ी शक्ति से कांति देती मही थी॥

होता है अभ्युदय जिसी का दैव-योग से,
होता है वह ग्रस्त तुरत ही गर्व-रोग से।
कृत्याकृत्य-विचार नहीं उसमें रहता है;
इसी हेतु वह कभी बड़ा दुख भी सहता है!
यही सूर्य जो इस घड़ी डूब रहा है, देखिये,
कैसे कैसे जगत में घोर कर्म इसने किये॥
जिसकी होगी सृष्टि, नाश भी उसका होगा;
जिसकी होगी वृद्धि, ह्रास भी उसका होगा।
जिसका है उत्थान, पतन भी उसका होगा;
जिसका है आगमन, गमन भी उसका होगा;
उदित हुआ था सूर्य्य भी डूबेगा फिर क्यों नहीं?
किन्तु अनुज! रह जायँगे इसके यश अपयश यहीं॥
जो फूलेगा उसे कभी कुम्हलाना होगा;
जो जन्मेगा उसे कभी मर जाना होगा।

इन बातों पर ध्यान किन्तु क्या खल देते हैं?
करते हैं अन्याय, नहीं वे फल लेते हैं।
अनुज! सूर्य्य के पतन का तनिक शोक करना नहीं,
उत्पीड़क की अन्त में होती है दुर्गति यहीं॥
दुख-दायक को दुखी देख कर दुखी न होना,—
कभी चाहिये, किन्तु चाहिये सुख से सोना।
जब होगा खल-अन्त, शान्ति तब होगी जग में,
फूल बिछेंगे वहाँ, रहे कांटे जिस मग में।
तपन-पतन के साथ ही जगत्ताप घटने लगा,
और यहाँ से देखिये हा हा रव हटने लगा।
अनुज! विलोको दिवा नहीं है, न है दिवाकर
कहाँ छिपी है निशा, छिपा है कहाँ निशाकर।
न है कहीं तम-नाम, तेज का लेश नहीं है;
सुखी शान्त है विश्व, किसीको क्लेश नहीं है।
तरु पर बैठे हैं कहीं कोकिल काक शिखी सही;
और मही पर मौन हो मृगा, महिप, शूकर कहीं॥
कुमुदों को मुद-हीन किया था बरबस जिसने,
निशानाथ का छीन लिया था सरबस जिसने।
अनुज! अकारण जलाशयों को तप्त किया था;
नभ में जिसने ताराओं को लुप्त किया था।
दबा हुआ निज पाप से डूब रहा है रवि वहीं;
उत्तापक चिरकाल तक कहीं ठहर सकता नहीं॥
दुष्ट दिनों दिन अधिक कुटिल होते जाते हैं,
कभी स्वप्न में भी न साधुता दिखलाते हैं।
अनुज! सूर्य्य का नाश शीघ्र होने वाला है;
तो भी जग में बनी हुई उसकी ज्वाला है।
रक्त वदन हो द्वेष से, क्रूर दृष्टि करने लगा;
काँप रहा है क्रोध से यद्यपि है गिरने लगा।
अस्ताचल पर गिर कर दिनमणि चूर्ण हुआ क्या?
कोमल उर्मी के सुभग कणों से पूर्ण हुआ क्या?

खण्डित हो, साम्राज्य निवल ज्यों हो जाता है;
अनुज ! व्योम क्या उसी दृश्य को दिखलाता है ?
या ये तारे हैं उगे, एक अन्य से भिन्न हो।
जहाँ फूट फैली रहे क्यों न देश वह खिन्न हो !
कभी मूढ़ में नहीं विज्ञता आ सकती है;
हृदय-शून्यता क्या आँसो की जा सकती है।
हित-अनहित का ज्ञान ज्ञानियों में होता है;
निज कुल का अभिमान मानियों में होता है।
अनुज ! सूर्य्य का पतन यह सुखद हुआ किसको नहीं ?
चक्रवाक पर मन्दमति, दुखी हुए हैं व्यर्थ ही ॥
बड़ा प्रबल है समय सभी पर आ जाता है;
पर वह टिकता नहीं सदा पलटा खाता है।
नहीं चाहता कभी स्वप्न में भी जग जिसको;
पर हो कर के विवश भोगता है वह उसको।
विरही होना कोक को इष्ट न था पर क्या करे ?
मुझ-सा वह भी विकल है; होनहार कैसे टरे ? ॥
काम-वासना-हीन हुआ जो धन्य वही है;
पर-वशता में अनुज ! कभी सुख-लेश नहीं है।
पर दुखसुख क्या विना समय आये मिलते हैं ?
कभी रात्रि में कहीं कमल-कुड्मल खिलते हैं ?
कोक, कोकनद शोक में पड़े हुए हैं इस घड़ी;
शोषक रवि की भी इन्हें कैसी है ममता बड़ी ? ॥
निर्विवेक-नृप-राज्य जहाँ पर हो जाता है,
ऊँच नीच का भेद वहाँ से खो जाता है।
मन-माना तम-पैर खूब जब जम जावेगा;
वही यहाँ भी दृश्य देखने में आवेगा।
सब समान हो जायँगे कुछ भी सूझेगा नहीं;
अनुज ! एक को दूसरा कुछ भी बूझेगा नहीं ॥
ज्यों ज्यों जग में अनुज ! जोर तम का बढ़ता है;
त्यों त्यों दृग पर मनो नील परदा पड़ता है।

आधि-व्याधि अकाल साथ अपने लाया है।
प्रथम दबाने के लिये, कपट यत्न इसने किया।
किन्तु आज कल तो यहाँ हाहाकार मचा दिया॥
कामासक्त प्रमाद-नींद में जो सोता है,
पराधीन या देश-बहिष्कृत वह होता है।
अन्यायी जन जहाँ जिसे दुर्बल पाते हैं,
उसका ही सर्वस्व पहुँच कर अपनाते हैं।
वासन्ती के साथ में जिस वसन्त ने सुख किया;
अनुज! उसीको ग्रीष्म ने आकर चौपट कर दिया॥
पर तुम रखना याद, कभी भी नहीं भूलना;
पर को देकर दुःख व्यर्थ है अनुज! फूलना।
उत्पीडन का न्याय नहीं स्थायी रहता है;
दुख को क्या सर्वदा कभी कोई सहता है?
ग्रीष्म तभी तक है बना जब तक घन उठते नहीं;
यहाँ शेष रह जायगा फिर उसका दुर्नाम ही॥
दुष्टों के सँग दुष्ट दुष्टता क्यों दिखलावें?
यदि दिखलावें अनुज! तुरत वे मुँह की खावें।
क्षार जलधि की तनिक नहीं शुचि ने क्षति की है
पद्माकर की किन्तु उसीने दुर्गति की है।
बलशाली के गेह में, खल-ताली बजती नहीं।
बना ऐक्य उद्योग के नियति कभी जगती नहीं॥
ग्रीष्म काल के बाद तुरत वर्षा ऋतु आई;
हरित भूमि हो गई, गगन घन-माला छाई।
नद नाले भर गये, धूल का नाम नहीं है;
पर दीनों के हृदय तनिक विश्राम नहीं है।
जब वारिद-गण करने लगा अत्याचार नया नया,
तब बोले लक्ष्मण से तुरत रघुवर से न रहा गया॥
अन्यायी का राज्य नहीं स्थायी होता है;
अपहृत का परिणाम दुःखदायी होता है।
ग्रीष्म अकारण सरल जगत को तपा रहा था;

मनमाना दुख--मूल चक्र को चला रहा था।
इस कारण से अनुज! वह नष्ट आप ही हो गया,
और उसी के साथ ही ताप मही का खो गया॥
किन्तु कभी हतभाग्य नहीं सुख को पाता है;
उसके सिर पर सदा दुःख आता जाता है।
कुम्भकार के गेह रहे या धोबी के घर;
जहाँ रहेगा वहीं भार को ढोवेगा खर।
उत्पीड़क यद्यपि अनुज! ग्रीष्म गया इस देश से,
तदपि अभी वह है दुखी वर्षा ऋतु के क्लेश से॥
"ग्रीष्म-गर्व को धूल मिलाया मैंने बल से;
भूपर अपना रंग जमाया मैंने बल से?
मेरे सम है कौन अन्य भी वली मही पर?
मेरे सम क्या सुखी, गुणी है और कहीं पर"?
मानों कहता है यहीं, मेघ गर्जता है नहीं।
अनुज! कभी जड़ की नहीं जड़ता जाती है कही॥
जिस कारण से अमित खलों को सुख होता है;
अनुज! उसीसे सदा भलों को दुख होता है।
नृत्य निरत हैं मोर मलिन मेघोन्नति से ज्यों,।
अति उदास हो भाग रहे हैं राजहंस त्यों।
तम वाञ्छित हैं घूक को, किन्तु चकोरक को नहीं।
जिसके जो अनुकूल है उसको प्रियतम है वही॥
होता है उपकार खलों से सदा खलों का;
होता है अपकार खलों से सदा भलों का।
पर इसमें तिलमात्र किसी का दोष नहीं है;
समझ देखिये, सदा प्रकृति का नियम यही है।
अनुज! जलधि-जल जलद ने, खारा ले मीठा दिया।
सर से पाया मधुर जल, पर उसको गदला किया॥
यदि अन्यायी-राज्य महा अन्यायी पावे;
क्यों न वहाँ की प्रजा और भी दुःख उठावे?
आकर जग को प्रथम ग्रीष्म ने खब जलाया.

हा ज्यों ही वह टला, क्रूर मेघागम आया।
सुख साधन जो थे बचे घन ने उनको भी लिया।
अपने काले हृदय का खूब हमें परिचय दिया॥
दुष्ट भूप का राज्य जहाँ पर हो जाता है,
खल मण्डल ही वहाँ चैन करने पाता है।
देश-निकाला किन्तु सज्जनों को मिलता है;
ईति-भीति का फूल वहाँ उत्कट खिलता है।
श्रुति-कटु कैसा हो रहा दादुर गण का शोर है,
खंजन जाने है कहाँ? अनुज समय यह घोर है॥
ताराओं के सहित शशी का पता नहीं है;
हाँ, नभ में खद्योत-मण्डली टिमक रही है।
हिंसक, लम्पट, चोर सदा स्वच्छन्द सुखी हैं;
व्यापारी बलहीन, दीन हैं, सदा दुखी हैं।
नीच नृपति की नीति की रीति सिखाने के लिये।
आये हैं ये घन मनो, अनुज! दुःख को झेलिये॥
चमक दमक कर स्ववश खूब कर लिया सभी को;
प्रावृट् ने कर-हीन मनो कर दिया सभी को।
कर्मवीर निज कर्म नहीं करने पाते हैं;
अपने मन की तृषा नहीं हरने पाते हैं।
दुखदायक संसार में, सुस्थिर रहता है नहीं।
जो आया वह जायगा, अनुज भरोसा है यही॥
रुका हुआ है अन्य देश का आना जाना;
कह भी सकते नहीं किसी से कुछ मनमाना।
दृग के आगे सदा हमारे तम छाया है;
बहुत दिनों के बाद समय ऐसा आया है।
पहिली सी फिर शरद् ऋतु कब आवेगी देश में
हम निरीह कब तक विभो! पड़े रहेंगे क्लेश में
तो भी निराश कभी होना न चाहिये;
पर प्रमाद की नींद कभी सोना न चाहिये।

प्रावृट् का यह सदा रहेगा नहीं अँधेरा;
होता है क्या नहीं निशा के बाद सवेरा!
अनुज! धैर्य्य के साथ जो किया करेंगे काज को;
तो अरिगण को जीत कर, पावेंगे निज राज को॥

यम-किंकर से मेघ यहाँ पर जब से आये,
तोड़ पुराने मार्ग उन्होंने नये चलाये।
दिनकर की कमनीय कान्ति खो गयी तभी से;
जलज-जाल की प्रभा मलिन हो गई तभी से।
आगे बढ़ने के लिये, पैर ठहरते हैं नहीं।
पंक-पिच्छिला हो गई कैसी थी सुन्दर मही॥

अगणित उष्मज जीव मही पर घूम रहे हैं;
अल्पकाल के लिये गर्व से झूम रहे हैं।
पर जब तक ये बने रहेंगे दुख देवेंगे;
स्वार्थ-निरत ये नीच हमें क्या सुख देवेंगे?
इनका प्रादुर्भाव तो, हुआ हमारे पाप से;
स्थायी पर ये हैं नहीं, मिट जावेंगे आप से॥

शक्ति और सम्पत्ति खलों की जब बढ़ती है,
उनकी अज्ञानता और भी तब बढ़ती है।
विधवा सी यह भूमि उर्वरा सूख रही है;
मरु हैं जल से सिक्त जहाँ जल—कार्य नहीं है।
अनघ! मेघ अघओघ हैं, अधिक दिनों रहते नहीं।
इनके अत्याचार को, इसीलिये कहते नहीं॥

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

# मंगल-यात्रा

( वैदेही वनवास से )

अवध पुरी आज सज्जिता है।
बनी हुई दिव्य-सुन्दरी है॥
विहँस रही है विकास पाकर।
अटा अटा में छटा भरी है॥

दमक रहा है नगर, नागरिक—
प्रवाह में मोद के बहे हैं॥
गली गली है गई सँवारी।
चमक रहे चारु चौरहे हैं॥

बना राज-पथ परम-रुचिर है।
विमुग्ध है स्वच्छता बनाती॥
विभूति उसकी विचित्रता से।
विचित्र है रंगतें दिखाती॥

सजल-कमल कान्त--पल्लवों से।
बने हुए द्वार थे फबीले॥
सु-छवि मिले छवि-निकेतनों की।
हुए सभी-सद्म थे छबीले॥

खिले हुए फूल से लसे थल।
ललामता को लुभा रहे थे॥
सुतोरणों के हरे-भरे-दल।
हरा भरा चित बना रहे थे॥

गड़े हुए स्तंभ कदलियों के।
दलावली छवि दिखा रहे थे॥
सुदृश्य-सौंदर्य-पट्टिका पर।
सुकीर्त्ति अपनी लिखा रहे थे॥

प्रदीप जो थे लसे कलस पर।
मिली उन्हें भूरि दिव्यता थी॥
पसार कर रवि उन्हें परसता।
उन्हें चूमती दिवा-विभा थी॥

नगर गृहों मन्दिरों मठों पर।
लगी हुई सज्जिता ध्वजायें॥
समीर से केलि कर रही थीं।
उठा उठा भूयसी भुजायें॥

सजे हुए राज-मन्दिरों पर।
लगी पताका विलस रही थी॥
जटित रत्नचय विकास के मिस।
चुरा चुरा चित्त हँस रही थी॥

न तोरणों पर न मञ्च पर ही।
अनेक-वादित्र बज रहे थे॥
जहाँ तहाँ उच्च-भूमि पर भी।
नवल-नगारे गरज रहे थे॥

न गेह में ही कुलांगनायें।
अपूर्व कल-कंठता दिखातीं॥
कहीं कहीं अन्य-गायिका भी।
बड़ा-मधुर गान थी सुनातीं॥

अनेक - मैदान मंजु बन कर।
अपूर्व थे मंजुता दिखाते॥
सजावटों से अतीव सज कर।
किसे नहीं मुग्ध थे बनाते॥

तने रहे जो वितान उनमें।
विचित्र उनकी विभूतियाँ थीं॥
सदैव उनमें सुगायकों की।
विराजती मंजु - मूर्त्तियाँ थीं॥

बनी ठनी थीं समस्त - नावें।
विनोद - मग्ना सरयू - सरी थी॥
प्रवाह में वीचि मध्य मोहक -
उमंग की मत्तता भरी थी॥

हरे - भरे तरु - समूह से हो।
समस्त उद्यान थे विलसते॥
लसी लता से ललामता ले।
विकच - कुसुम - व्याज थे विहँसते॥

मनोज्ञ मोहक पवित्रतामय।
बने विबुध के विधान से थे॥
समस्त - देवायतन अधिकतर।
स्वरित बने सामगान से थे॥

प्रमोद से मत्त आज सब थे।
न पा सका कौन - कंठ पिकता॥
सकल नगर मध्य व्यापिता थी।
मनोमयी मंजु मांगलिकता॥

दिनेश अनुराग - राग में रँग।
नभांक में जगमगा रहे थे॥
उमंग में भर विहंग तरु पर।
रसे - मधुर गीत गा रहे थे

इसी समय दिव्य - राज - मन्दिर ।
ध्वनित हुआ वेद - मंत्र द्वारा ॥
हुईं सकल - मांगलिक क्रियायें ।
बही रगों में पुनीत - धारा ॥

क्रियान्त में चल गयंद - गति से ।
विदेहजा द्वार पर पधारीं ॥
बजी बधाई मधुर स्वरों से ।
सुकीर्त्ति ने आरती उतारी ॥

खड़ा हुआ सामने सुरथ था ।
सजा हुआ देवयान जैसा ॥
उसे सती ने विलोक सोचा ।
प्रयाण में अब विलम्ब कैसा ॥

वशिष्ठ देवादि को विनय से ।
प्रणाम कर कान्त पास आईं ॥
इसी समय नन्दिनी जनक की ।
अतीव - विह्वल हुई दिखाई ॥

परन्तु तत्काल ही संभल कर ।
निदेश माँगा विनम्र बन के ॥
परन्तु करते पदाब्ज - वन्दन ।
विविध बने भाव वर - वदन के

कमल - नयन राम ने कमल से—
मृदुल करों से पकड़ प्रिया - कर ॥
दिखा हृदय - प्रेम की प्रवणता ।
उन्हे बिठाला मनोज्ञ रथ पर ॥

उचित जगह पर विदेहजा को ।
विराजती जब विलोक पाया ॥
सवार सौमित्र भी हुए तब ।
सुमित्र ने यान को चलाया ॥

बजे मधुर - वाद्य तोरणों पर।
सुगान होता हुआ सुनाया॥
हुए विविध मंगलाचरण भी।
सजल - कलस सामने दिखाया॥

निकल सकल राज - तोरणों से।
पहुँच गया यान जब वहाँ पर॥
जहाँ खड़ी थी अपार - जनता।
सजी सड़क पर प्रफुल्ल होकर॥

बड़ी हुई तब प्रसून - वर्षा।
पतिव्रता जय गई बुलाई॥
सविधि गई आरती उतारी।
बड़ी धूम से बजी बधाई॥

खड़ी द्वार पर कुलांगनायें।
रहीं मांगलिक - गान सुनाती॥
विनम्र हो हो पसार अञ्चल।
रहीं राजकुल कुशल मनाती॥

शनैः शनैः मंजुराज - पथ पर।
चला जा रहा था मनोज्ञ रथ॥
अजस्र जयनाद हो रहा था।
बरस रहा फूल था यथातथ॥

निमग्न आनन्द में नगर था।
बनीं सुमनमय अनेक - सड़कें॥
थके न कर आरती उतारे।
दिखे दिव्यता थकीं न ललकें॥

नगर हुआ जब समाप्त सिय ने।
तुरन्त सौमित्र को विलोका॥
सुमित्र ने भाव को समझकर।
सँभाल ली राम यान रोका॥

उतर सुमित्रा - कुमार रथ से।
अपार - जनता समीप आये॥
कहा कृपा है महान जो यों।
कृपाधिकारी गये बनाये॥

अनुष्ठिता मांगलिक सुयात्रा।
भला न क्यों सिद्धि को वरेगी॥
समस्त - जनता प्रफुल्ल हो जो
अपूर्व - शुभ - कामना करेगी॥

कृपा दिखा आप लोग आये।
कुशल मनाया, हितैषिता की॥
विविध मांगलिक - विधान द्वारा।
समर्चना की दिवांगना की॥

हुईं कृतज्ञा - अतीव आर्य्या।
विशेष हैं धन्यवाद देती॥
विनय यही है बढ़ें न आगे।
विराम क्यों है ललक न लेती॥

बहुत दूर आ गये ठहरिये।
न कीजिये आप लोग अब श्रम॥
सुखित न होंगी कदापि आर्य्या।
न जायँगे आप लोग जो थम॥

कृपा करें आप लोग जायें।
विनम्र हो ईश से मनावें॥
प्रसव करें पुत्र - रत्न आर्य्या।
मयंक नभ - अंक में उगावें॥

सुने सुमित्रा - कुमार बातें।
दिशा हुई जय - निनाद भरिता॥
बही उरों में सकल - जनों के।
तरंगिता बन विनोद - सरिता॥

पुनः सुनाई पड़ा राजकुल ।
सदा कमल सा खिला दिखावे ॥
यथा - शीघ्र फिर अवध धाम में ।
बन्दनीयतम - पद पड़ पावे ॥

चला वेग से अपूर्व स्यंदन ।
चली गई यत्र तत्र जनता ॥
विचार - मग्ना हुई जनकजा ।
बड़ी विषम थी विषय - गहनता ॥

कभी सुमित्रा - सुअन ऊवकर ।
वदन जनकजा का विलोकते ॥
कभी दिखाते नितान्त - चिन्तित ।
कभी विलोचन - वारि रोकते ॥

चला जा रहा दिव्य यान था ।
अजस्र था टाप - रव सुनाता ॥
सकल - घंटियाँ निनाद रत थीं ।
कभी चक्र घर्घरित जनाता ॥

हरे भरे खेत सामने आ ।
भभर, रहे भागते जनाते ॥
विविध रम्य आराम भूरि - तरु ।
पंक्ति - बद्ध थे खड़े दिखाते ॥

कहीं पास के जलाशयों से ।
विहंग उड़ प्राण थे बचाते ॥
लगा लगा व्योम - मध्य चक्कर ।
अतीव - कोलाहल थे मचाते ॥

कहीं चर रहे पशु विलोक रथ ।
चौंक चौंक कर थे वबराते ॥
उठा उठा कर स्वकीय पूछें ।
इधर उधर दौड़ते दिखाते ॥

कभी पथ - गता ग्राम नारियाँ।
गयंद - गतिता रहीं दिखाती॥
रथाधिरूढ़ा कुलांगना की।
विमुग्ध वर - मूर्ति• थी बनाती॥

कनक - कान्ति, कोशल-कुमार का।
दिव्य - रूप सौंदर्य्य - निकेतन॥
विलोक किस पांथ का न बनता।
प्रफुल्ल अंभोज सा विकच मन॥

अधीर - सौमित्र को विलोके।
कहा धीर - धर धरांगजा ने॥
बड़ी व्यथा हो रही मुझे है।
अवश्य है जी नहीं ठिकाने॥

परन्तु कर्त्तव्य है न भूला।
कभी उसे भूल मैं न दूँगी॥
नहीं सकी मैं निवाह निज व्रत।
कभी नहीं यह कलंक लूँगी॥

विषम समस्या सदन विश्व है।
विचित्र है सृष्टि कृत्य सारा॥
तथापि विष - कण्ठ - शीश पर है
प्रवाहिता स्वर्ग - वारि - धारा॥

राहु केतु है जहाँ व्योम में।
जिन्हें पाप ही पसंद आया।
वहीं दिखाती सुधांशुता है।
वहीं सहस्रांशु जगमगाया॥

द्रवणशील है स्नेह सिन्धु है।
हृदय सरस से सरस दिखाया॥
परन्तु है त्याग - शील भी वह।
उसे न कब पूत - भाव भाया॥

विचित्रता तो भला कौन है।
स्वभाव का यह स्वभाव ही है॥
कब न वारि बरसे पयोद बन।
समुद्र की ओर सरि वही है॥

वियोग का काल है अनिश्चित।
व्यथा - कथा वेदनामयी है॥
बहु - गुणावली रूप - माधुरी।
रोम रोम में रमी हुई है॥

अतः रहूँगी वियोगिनी मैं
नेत्र वारि के मीन बनेंगे॥
किन्तु दृष्टि रख लोक - लाभ पर।
सुकीर्त्ति - मुक्तावली जनेंगे॥

सरस सुधा सी भरी उक्ति के।
नितान्त - लोलुप श्रवण रहेंगे॥
किन्तु चाव से उसे सुनेंगे।
भले - भाव जो भली कहेंगे॥

हृदय हमारा व्यथित बनेगा।
स्वभावतः वेदना सहेगा॥
अतीव - आतुर दिखा पड़ेगा।
नितान्त - उत्सुक कभी रहेगा॥

कभी आह आँधियाँ उठेंगी।
कभी विकलता घटा घिरेगी॥
दिखा चमक चौंक - व्याज उसमें।
कभी कुचिन्ता - चपला फिरेगी॥

परन्तु होगा न वह प्रवंचित।
कदापि गन्तव्य पुण्य - पथ से॥
कभी नहीं भ्रान्त हो गिरेगा।
स्वधर्म - आधार दिव्य रथ से॥

सदा करेगा हित सब-भूत का।
न लोक आराधन को तजेगा॥
प्रणय-मूर्त्ति के लिये मुग्ध हो।
आर्त्त-चित्त आरती सजेगा॥

अवश्य सुख वासना मनुज को।
सदा अधिक भ्रान्त है बनाती॥
पड़े स्वार्थ-अंधता तिमिर में।
न लोक हित-मूर्त्ति है दिखाती॥

कहाँ हुआ है उबार किसका।
सदा कभी की हुई हार है॥
अपार-संसार वारिनिधि में।
आत्मसुख भँवर दुर्निवार है॥

बड़े बड़े पूज्य-जन जिन्होंने।
गिना स्वार्थ को सदैव सिकता॥
न रोक पाये प्रकृति प्रकृति को।
न त्याग पाये स्वाभाविकता॥

चौपदे

मैं अबला हूँ आत्मसुखों की।
प्रबल लालसायें प्रतिदिन आ॥
मुझे सताती रहती हैं जो।
तो इसमें है विचित्रता क्या॥

किन्तु सुनो सुत जिस पति-पद की।
पूजा कर मैंने यह जाना॥
आत्मसुखों से आत्मत्याग ही।
सुफलद अधिक गया है माना॥

उसी पूत-पद-पोत सहारे।
विरह-उदधि को पार करूँगी॥
विधु-सुन्दर वर-वदन ध्यान कर।
मारा अन्तर-तिमिर हरूँगी॥

सर्वोत्तम साधन है उर में।
भव-हित पूत-भाव का भरना॥
स्वाभाविक-सुख-लिप्साओं को।
विश्व-प्रेम में परिणत करना॥

दोहा

इतना सुन सौमित्र की दूर हुई दुख-दाह।
देखा सिय ने सामने, सरि-गोमती-प्रवाह॥

जयशंकर प्रसाद

# रहस्य

( कामायनी से )

द्रुततर चक्कर काट पवन भी
फिर से वहीं लौट आ जाता।
नीचे जलधर दौड़ रहे थे
सुन्दर सुर-धनु माला पहने;
कुंजर-कलभ सदृश इठलाते
चमकाते चपला के गहने।
प्रवहमान थे निम्न देश में
शीतल शत शत निर्भर ऐसे;
महा श्वेत गजराज-गण्ड से
विखरीं मधु-धारायें जैसे।
हरियाली जिनकी उभरी, वे
समतल चित्र पटी सी लगते;
प्रतिकृतियों के वाह्य रेख से
स्थिर, नद जो प्रतिपल थे भरते।
लघुतम वे सब जो वसुधा पर
ऊपर महा शून्य का घेरा;
ऊँचे चढ़ने की रजनी का
यहाँ हुआ जा रहा सवेरा।
"कहाँ ले चली हो अब मुझको
श्रद्धे ! मैं थक चला अधिक हूँ
साहस छूट गया है मेरा
निस्संवल भग्नाश पथिक हूँ।
लौट चलो, इस वात-चक्र से
मैं दुर्बल अब लड़ न सकूँगा;
श्वास रुद्ध करने वाले इस
शीत पवन से अड़ न सकूँगा।
मेरे, हाँ वे सब मेरे थे
जिन से रूठ चला आया हूँ;
वे नीचे छूटे सुदूर, पर
भूल नहीं उनको पाया हूँ।'

दिवा-रात्रि के संधि-काल में
ये सब कोई नहीं व्यस्त थे।
ऋतुओं के स्तर हुए तिरोहित
भू-मण्डल रेखा विलीन-सी;
निराधार उस महादेश में
उदित सचेतनता नवीन-सी!
त्रिदिक् विश्व, आलोक - विन्दु भी
तीन दिखाई पड़े अलग वे;
त्रिभुवन के प्रतिनिधि थे मानो
वे अनमिल थे किन्तु सजग थे।
मनु ने पूछा, "कौन नये ग्रह
ये हैं, श्रद्धे! मुझे बताओ;
मैं किस लोक बीच पहुँचा, इस
इंद्रजाल से मुझे बचाओ।"
'इस त्रिकोण के मध्य विंदु तुम
शक्ति विपुल क्षमता वाले ये;
एक एक को स्थिर हो देखो
इच्छा, ज्ञान, क्रिया वाले ये।
वह देखो रागारुण है जो
ऊषा के कंदुक-सा सुन्दर;
छायामय कमनीय कलेवर
भावमयी प्रतिमा का मंदिर।
शब्द, स्पर्श, रस, रूप गंध की
पारदर्शिनी सुघड़ पुतलियाँ;
चारों ओर नृत्य करतीं ज्यों
रूपवती रंगीन तितलियां।

इस कुसुमाकर के कानन के
अरुण पराग पटल छाया में;
इठलातीं सोतीं जगतीं ये
अपनी भाव भरी माया में।

माया-राज्य ! यही परिपाटी
पास बिछा कर जीव फाँसना।
ये अशरीरी रूप, सुमन से
केवल वर्ण गंध में फूले;
इन अप्सरियों की तानों के
मचल रहे हैं सुन्दर झूले।
भाव-भूमिका इसी लोक की
जननी है सब पुण्य-पाप की;
ढलते सब, स्वभाव प्रतिकृति बन
गल ज्वाला से मधुर ताप की।
नियममयी उलझन-लतिका का
भाव-विटपि से आकर मिलना;
जीवन-वन की बनी समस्या
आशा नभ-कुसुमों का खिलना।
चिर-वसंत का यह उद्गम है
पतझर होता एक ओर है;
अमृत हलाहल यहाँ मिले हैं।"
सुख-दुख बँधते, एक डोर हैं।"

"सुन्दर यह तुमने दिखलाया
किंतु कौन वह श्याम देश है?
कामायनी ! बताओ उसमें
क्या रहस्य रहता विशेष है?"

"मनु यह श्यामल कर्म-लोक है
धुँधला कुछ-कुछ अन्धकार-सा
सघन हो रहा अविज्ञात यह
देश मलिन है धूम-धार-सा;
कर्म-चक्र-सा घूम रहा है
यह गोलक, बन नियति-प्रेरणा;
सब के पीछे लगी हुई है
कोई व्याकुल नई एषणा।

यहाँ भूख से विकल दलित को
पदतल में फिर-फिर गिरवाती
यहाँ लिये दायित्व कर्म का
उन्नति करने के मतवाले;
जला-जला कर फूट पड़ रहे
ढुल कर बहने वाले छाले।
यहाँ राशिकृत विपुल विभव सब
मरीचिका से दीख पड़ रहे;
भाग्यवान बन क्षणिक भोग के
वे विलीन, ये पुनः गड़ रहे।
बड़ी लालसा यहाँ सुयश की
अपराधों की स्वीकृति बनती;
अंध प्रेरणा से परिचालित
कर्त्ता में करते निज गिनती।
प्राण-तत्त्व की सघन साधना
जल, हिम उपल यहाँ है बनता;
प्यासे घायल हो जल जाते
मर-मर कर जीते ही बनता।
यहाँ नील लोहित ज्वाला कुछ
जला गला कर नित्य ढालती;
चोट सहन कर रुकनेवाली
धातु, न जिसको मृत्यु सालती।
वर्षा के घन नाद कर रहे,
तट कूलों को सहज गिराती;
प्लावित करती वन कुंजों को
लक्ष्य-प्राप्ति सरिता बह जाती।"
"बस! अब और न इसे दिखा तू
यह अति भीषण कर्म जगत है;
श्रद्धे! वह उज्ज्वल कैसा है
जैसे पुञ्जीभूत रजत है।"

जीवन-मधु एकत्र कर रही
उन मधुमाखियों-सा बस लेखो।
यहाँ शरद की धवल ज्योत्स्ना
अंधकार को भेद निखरती;
यह अनवस्था, युगल, मिले से
विकल व्यवस्था सदा बिखरती।
देखो वे सब सौम्य बने हैं
किंतु सशंकित हैं दोषों से;
वे संकेत दंभ के चलते
भ्रू-चालन मिस परितोषों से?
यहाँ अछूत रहा जीवन-रस
छूओ मत संचित होने दो;
बस इतना ही भाग तुम्हारा
तृषा! मृषा, वंचित होने दो।
सामंजस्य चले करने ये
किंतु विषमता फैलाते हैं;
मूल स्वत्व कुछ और बताते
इच्छाओं को झुठलाते हैं।
स्वयं व्यस्त पर शांत बने से
शास्त्र शास्त्र रक्षा में पलते;
ये विज्ञान भरे अनुशासन
क्षण क्षण परिवर्त्तन में ढलते।
यही त्रिपुर है देखा तुमने
तीन बिंदु ज्योतिर्मय इतने,
अपने केंद्र बने दुख-सुख में
भिन्न हुए हैं ये सब कितने।
ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की;
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की।"

महा ज्योति रेखा-सी बनकर
श्रद्धा की स्मिति दौड़ी उनमें;
वे सम्बद्ध हुए फिर सहसा
जाग उठी थी ज्वाला जिनमें।
नीचे ऊपर लचकीली वह
विषम वायु में धधक रही-सी;
महाशून्य में ज्वाल सुनहली,
सब को कहती 'नहीं नहीं' सी।
शक्ति-तरंग प्रलय-पावक का
उस त्रिकोण में निखर उठा-सा;
शृंग और डमरू निनाद बस
सकल विश्व में बिखर उठा-सा।
चितिमय चिता धधकती अविरल
महाकाल का विषम नृत्य था;
विश्व-रंध्र ज्वाला से भर कर।
करता अपना विषम कृत्य था।
स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे;
दिव्य अनाहत पर निनाद में
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।

अनूप शर्मा 'अनूप'

## संयोग

( सिद्धार्थ से )

मन्दाक्रान्ता

संध्या को ही अवगत हुआ भूप को वृत्त सारा,
गोपा ने ज्यों नयन-शर से पुत्र का चित्त भेदा,
बोले, "मेरा तनय अब तो दाम में बद्ध ही है,
जैसे-तैसे त्वरित उसके ब्याह की योजना हो।
"गोपा के भी जनक गृह को शीघ्र ही दूत जावें,
इच्छा मेरी त्वरित उनके पास जाके सुनावें,
शोभावाली सुभग विदुषी सुप्रबुद्धात्मजा जो
मेरे प्यारे तनय वर की शोभनीया वधू हो।"
जाके गोपा-जनक-गृह को दूत ने शीघ्रता से
सारी वार्ता कथित करके शीघ्र संदेश माँगा,
बोले वे, "जा, महिपवर से यों कहो वाक्य मेरे,
टाली जाती किम नृपति से शाक्य-भूपाल-आज्ञा ?
"कन्या का मैं परिणय करूँ किन्तु है एक चिन्ता,
गोपा के हैं अपर प्रणयी जो उसे चाहते हैं,
योद्धा भारी समर-विजयी नागदत्ताख्य धन्वी,
धर्मी है अपर सुत भी मत्त-मातंग-गामी।
"सेनानी है सबल अति ही साहसी नन्दराजा,
बाँका धन्वी बलि-तनय भी चाहता ब्याहना है,

कान्ताकारा कुमुद-कलिका-कोमला कन्यका का
पावेगा सो कर-कमल जो हंस होगा द्विजों में।
"सोचा मैंने शुभ मख रचूँ एक सप्ताह बीते,
राजा भेजें स-मुद अपने पुत्र सिद्धार्थ को भी,
आवें सारे नृपति-सुत जो व्याहना चाहते हो,
बाणों में हों सफल, असि में योग्यता-प्राप्त जो हों।"
सारी बातें शक-नृपति से दूत ने जा सुनाई,
राजा ने भी वरण-मख में पुत्र भेजा सुखी हो,
शोभाशाली विरचित हुई रंग-भू सौख्यदायी,
आया ज्यों ही समय जनता देखने को पधारी।
नाना योद्धा, समर-विजयी, विक्रमी, हेति-धारी,
आये राजा, प्रबल बल में ख्याति में, जो बड़े थे,
ऐसों पै पा विजय बल से कौन-से साहसी ने,
आओ, देखें, परिणय किया सुप्रबुद्धात्मजा का।
शोभाशाली विरचित हुई रंग-भू भी सुभव्या,
लंबी-चौड़ी परम सुखदा मेदिनी सज्जिता थी,
आभावाली वह बन गई तुंग मंचादिकों से
जो थे ऐसे विशद कि उन्हें देखते देवता थे।
देखो, आई सुभग शिविका सुप्रबुद्धात्मजा की,
बालायें हैं सुखद सँग में मंगलाचार गातीं,
शोभा ऐसी प्रचुर उनके रूप की, रंग की है,
मानो आती ललित लहरें सिन्धुजा-संग में हों।
आये पाणि-ग्रहण करने नागदत्तादि योद्धा,
हस्ती-बाजी-कवच-असि ले, कुन्त ले, चाप भी ले,
देखो आया परम विजयी नन्द वीराग्रणी सो
लाया था जो विजय-कमला सिन्धु के पार जाके।
आगे आगे युवक विजयी आ डटे रंग-भू में,
पीछे-पीछे सुभट-गण के वीर सिद्धार्थ आये,
नाना हेषा-सहित हय भी कूदते-फाँदते थे,
मेला-सा था सकल जन का, भीड़ थी दर्शकों की।

श्रीशास्ता ने व्यथित जनता संकुली भूत देखी,
कन्थाशेषा कृशित अति जो रोग से क्लेश से थी,
आँसू छाये कमल-कलिका-साम्यवाले दृगों पै,
प्रायः साधू सुजन तपते लोक के ताप से हैं।
देखा ज्यों ही कमलवदनी सुप्रबुद्धात्मजा को,
वाजी रोका, उतर महिपै शीघ्र सिद्धार्थ आये,
सारे योद्धा-सुभट-गण को वीरता से प्रचारा
धन्वी खड्गी समर-विजयी जो वहाँ थे पधारे।

भारी भारी धनुष-गण की शिञ्जिनी खींचने में,
नाराचों के सहित गुण को कान लौं तानने में,
होवें वैरी बधिर जिनसे, चाप टंकारने में,
दूरीवाले चलित गति के लक्ष्य को भेदने में,
आरा की-सी निशित जिनकी घोर थी तीक्ष्ण धारा,
ऐसे ऐसे विषम सरु के खड्ग की झेलने में,
आरोही को निरख जब से कूदता-फाँदता जो
ऐसे भारी चपल गति के अश्व को हाँकने में,
बारी बारी अपर भट ने जो कलायें दिखाई,
वे थीं ऐसी निरख जिनको लोग थे मोद पाते,
ज्यों ही आगे सुभट-गण के वीर सिद्धार्थ आये,
वीरों ने भी प्रवचन किया योग्यता देखते ही—
"योद्धाओं में, अमर-सुत या नागदत्तादिकों में,
चापों में, या निशित असि में, या हयारूढ़ता में,
एकाकी है सुभट-गण में श्रेष्ट सिद्धार्थ योद्धा,
ब्याहा जाना उचित इनका सुप्रबुद्धात्मजा से।"
बोले गोपा-जनक सुख के अश्रु ला लोचनों में,
"मेरे प्यारे, उचित वर हैं आप ही कन्यका के,

सारे योद्धा विजित करके आपने रंग-भू में
फैलाई है सुयश-गरिमा शाक्य-वंशानुरूपा।
"बाजे बाजें, सुमुखिगण भी मंगलाचार गावें,
आवे गोपा सुभग जय की मालिका भेंटने को,

होवे सारी उपयम-प्रथा, ब्याह की योजनायें,
मैंने पाया अतुल सुख जो पा सकेगा न कोई ।"

वंशस्थ

नृपाल के शासन से नितंबिनी,
सुवर्णिनी उत्तम मत्तकाशिनी,
तुरन्त बाला प्रमदा, कुलांगना,
चलीं तरंगाकुल ज्यों तरंगिणी।
समोद आगे करके यशोधरा,
चलीं सभी चन्द्रमुखी वरांगना,
प्रतीत होतीं वह छद्म-वेषिणी,
सती-शची - शारद- सिन्धुजा-समा।
भरे हुए तप्त सुवर्ण की प्रभा,
सजे हुए अंबर भूषणादि भी,
चली सभी के पुरतः यशोधरा,
प्रमत्त - मातंग - विलास - गामिनी।
चली जभी सुन्दर सुप्रबुद्धजा
धँसी सभा-सागर-मध्य अप्सरा,
मुँहुमुँहुः मन्थर पाद-घात से
उठा चली चारु तरंग-भंगिमा।
चली सखी - संहति-पृष्ठ - वर्तिनी,
चली सखी - संहति-मध्य-वर्तिनी,
चली सखी - संहति - अग्र-वर्तिनी,
स - हार - हस्ता मुदिता यशोधरा।
चली करों में अग तोलती हुई,
विलेप - आमोद प्रसारती हुई,
विवर्ण हो देख रतीश-दूत को
स्व-कर्ण से भृंग निवारती हुई।
चली सु-रत्नाकुल-वस्त्र-वासिनी,
विकासती ज्योति निशेश-हासिनी,

विलास से वंकिम भ्रू विलोक के
चढ़ा लिया स्वीय शरास मारने।
विनोदिता यौवन - भार - गुर्विता,
अनूप - अंगांग - अनंग - अंचिता,
चली उगाती सित-कंज मार्ग में,
वसंत-लक्ष्मी सदृशा यशोधरा।
चली यदा सस्मित हो मनोरमा,
रदावली अग्रिम-वर्तिनी खुली,
हुई सभा धौत प्रभात अंशु से,
खिली सभी के मुख में सरोजिनी।
निशेश को, तारक को, पयोद को,
स्व-वक्त्र की, लोचन की, कचौघ की,
चली हराती रुचि से यशोधरा
सलज्ज - नम्रा सुषमावगाहिनी।
विनीत कण्ठ-स्वर से सरस्वती,
स - लज्ज गौरी कल हास से हुई,
विलोचनों से विजिता समुद्रजा,
पराजिता थी कटि से पुलोमजा।
मनोरमा मूर्त्तिमती उषा-समा,
सुधांशु-आभा-सम कान्ति देह की,
ढली हुई श्रीकर से विरंचि के,
सुमध्यमा कांचन - अंग-यष्टि थी।
लगा दिये सारँग अंग-अंग में
सिखा दिये शब्द 'कुहू'-निनाद के,
सुवासिता श्वास-समीर से किया,
उसे रचा था मधु-शिल्पकार ने।
चढ़े हुए अंग मनोज-शाण पै,
सुडौल थे, सुन्दर थे, सुवृत्त थे,
प्रभामयी लोचन की मनोज्ञता,
असेत थी, उज्ज्वल थी, अलक्त थी।

निशेश की, मंगल की समष्टि-सी
समुज्ज्वला रक्तिम थी तनु - प्रभा,
पयोद - श्यामा लट वक्र-गामिनी
प्रलम्ब थी चुम्बन को कपोल के।
चली खिलाती कल कंज कामिनी,
विशुद्ध वासन्तिकता - शरीरिणी,
विनम्र होके जय-माल-भार से
पुनः पुनः थीं लचती कलाइयाँ।
समक्ष ही राजकुमार को लखा,
मदालसा चंचल - लोचना हुई,
उन्हें दृगों के पथ से स्व-चित्त में
बिठा लिया लोचन मूँद प्रेम से।
स-मोद डाली जय-माल कंठ में,
बजे बधाये बहु रंग-भूमि में,
विमुग्ध सिद्धार्थ 'बना' बने, अहो !
'बनी' बनी कान्तिमती यशोधरा।
पुनीत था पूषण मेष लग्न का
प्रवृत्त वेला शुभ धेनु-धूलि की
विलोक बोले नृप सुप्रबुद्ध यों,
तुरन्त हो मंजु विवाह-योजना।
ध्वजा-पताका - घट - तोरणादि से
सजा हुआ मंडप था विवाह का,
भरे हुए थे नर-नारि धाम में
खड़े हुए थे गज-वाजि द्वार पै।
तुरन्त बाजे बजने लगे वहाँ,
कृशानु-क्रीड़ा द्रुत छूटने लगी,
चढ़ीं अटारी यव डालती हुई
अलापती कोकिल-कंठ कामिनी।
कुमारियों की ध्वनि थी पिकी-समा
शिरस्थ थे मौर मनोज्ञ रूप के,

अजस्र होता सुमन-प्रदान था,
लखो सुवासान्तिकता विवाह की।
विराजमाना गृह-मध्य भाग में,
वरासनस्था युग मूर्त्तियां लसी,
विवाह मानो रति-शम्बरारि का
रचा गया हो फिर से विरंचि से।
मनोज्ञ था आनन शाक्यवीर का,
प्रफुल्ल सर्वांश-प्रफुल्ल-कंज-सा,
ललाट में रोचन-विन्दु की प्रभा
पराग-शोभा करती मलीन थी।
विराजता था कमनीय सीस पै
बना हुआ मंजु किरीट स्वर्ण का,
मनोज्ञता - मंडित - मौर - मध्य में
जड़े हुए हीरक - पद्मराग थे।
मृगांक के मंजुल मौलि पै यथा
विभाग हो आतप-युक्त व्योम का,
विमुग्ध हो कौतुक से जहाँ लसे
प्रकाशते तारक सर्व रोदसी।
विलोल थे कुंडल कर्ण में लसे
स-हास दोनों दृग-पुंडरीक थे,
अलक्त-माला-मिष राग चित्त का
छुपा हुआ था उर के कपाट पै।
समीप स्वाहा-सम कान्ति-काशिनी,
लसी समासीन प्रमोद-संयुक्ता,
प्रशंसनीया नृप सुप्रबुद्ध की
अखंड-सौभाग्यवती यशोधरा।
प्रफुल्ल कंजानन में मनोरमा
समूढ़ शोभा सब विश्व की हुई,
निशेश के एक चतुर्थ भाग-सी
ललाट-आभा जग-मोहिनी लसी।

लसा शिरोभूषण भव्य भाल पै,
विशाल रत्नाभरणा प्रभा लिये,
विलेखनीया छवि मौर की लसी
पतिव्रता - मंडल - शासिका समा ।
ललाट में मंजु विलोकनीय थी,
असेत बिन्दी मद की कुरंग के,
यथैव सम्प्राप्त स्व-बाल-रूप को
विराजता था शनि चन्द्र-अंक में
कटाक्ष थे यद्यपि लक्ष्य पा चुके,
तथापि भ्रू-चाप चढ़ा हुआ लसा,
सुलोचना के नयनारविन्द की
विचित्र थी भाव-प्रकाशिनी दशा ।
विवाह की उत्तरदायिता बढ़ी
चढ़ी कपोलों पर और लालिमा,
प्रफुल्ल-प्राया कलिका-समान थी,
प्रसन्न मुद्रा वदनारविन्द की ।
मृणाल-सा कोमल बाहु देख के
विनिन्द्य जानी अपनी कठोरता,
सुवर्ण का कंकण भी इसी लिए,
अजस्र होता वहु कम्पमान था ।
विलोकती थी प्रिय को यशोधरा,
निहारते थे दयिता कुमार भी,
हुई व्यतीता कितनी शताब्दियाँ,
कभी न भूला वह देखना मुझे ।
प्रसून-वर्षा कर नव्य युग्म पै
अलस्र थीं गान-रता सुवासिनी,
विवाह - आचार-विचार में लगी
स-वेद-मंत्र-ध्वनि विप्र-मंडली ।
पुराण-वेदोक्त प्रकार से तदा,
हुआ समायोजन जो विवाह का,

अभूत था संसृति में अभावि है,
त्रिलोक में भी उस-सा नहीं हुआ।
यशोधरा-पाणि कुमार-हस्त में
विलोक आता मन में विचार था,
यथा कहीं कैरव-पुंडरीक ले
निशेश-वारेश दिनान्त में मिलें।
समाप्त सातों जब भाँवरें हुईं
तदा विराजे मणि-पादपीठ पै,
हुआ सुखी मानस सुप्रबुद्ध का
विलोक सिद्धार्थ तथा यशोधरा।
अलक्त - सिन्दूर - ललाटिका- मयी
कुमार ने यों कर दी यशोधरा—
मिलिन्द ने उज्ज्वल अब्ज पै यथा
स्वकीय हृत्पिंड रखा निकाल के।
ललाट में, कुन्तल-मध्य-माँग में,
विलोक सिन्दूरमयी मनोज्ञता
हुई अलक्तानन सर्व घोषिता,
शरीर-रोमावलि पुष्पिताग्र भी।
द्विफालवाली चिकुरालि - मध्यगा
यशोधरा की अति मंजु माँग थी,
प्रदीप्त हो कज्जल-कूट पै यथा
प्रदीप की सुप्त शिखा मनोरमा।
कला निशा में अथवा निशेश की;
स-धैर्य कादम्बिनि-मध्य चञ्चला,
कि हेम-रेखा कष पै कसी हुई,
कि औषधी हो जलती वनान्त में।
समाप्त होते सब व्याह की क्रिया,
हुए महा हर्षित सुप्रबुद्ध भी,
स-प्रेम सिद्धार्थ-समेत कन्यका
तदा विदा की, कह यों कुमार से—

शार्दूलविक्रीड़ित

"मेरा तो बस एक-मात्र धन है, कन्या शुभा सुन्दरी,
माता की यह मूर्तिमान करुणा, है स्नेह-संचारिणी,
देता हूँ अब मैं वही उभय की आशा अकेली तुम्हें,
छाया ही इस पै सदैव रखना श्रीहस्त की, हे सुधी!"

द्रुतविलंबित

रजनि एक घड़ी गत हो चुकी,
उदित इन्दु हुआ मधु-मास का,
कपिलवस्तु धराधिप - धाम में
स-वनिता पहुँचे शक-नाथ भी।
वर-वधू गुरु-वंदन के लिए
जब पधार गये नृप-गेह में,
परम मोद-मयी महिषी हुई,
मुदित भूपति का मन हो गया।
ससुर का पद-वंदन सास का
कर बनी अति मुग्ध यशोधरा,
फिर विदा निज-मन्दिर को हुए
वह महाछवि साथ कुमार ले।
विविध व्यंजन कंचन-थाल में
सज चलीं सुखदा परिचारिका,
वर-वधू स्थित भोजन को हुए
प्रणय से, रति से, अनुराग से।
स-मुद दम्पति भोजन-काल में
कह उठे मन के मृदु भाव यों,
उदधि दो अति ही अनुराग से
मिल चलें जिस भांति उमंग में।
अधखुले बड़रे दृग कोर से
सुगत के मन की गति थाहती,
कह चली इस भांति यशोधरा,
परम प्रीतिमयी वचनावली—

"बहुत क्लेश किया, प्रभु आपने,
असि - गदा - हय-चालन-आदि में,
सुख मुझे पर, कारण जो हुई
इस महा महिमामय मान का।
"प्रभु, क्षमा करिए इस दोष को,
जनक का प्रण भी अनिवार्य था,
पर-वशा अति थी, न तु आपको
दुख न दे सकती यह सेविका।"
सुमुखि के मुख पै लख चूनरी
अध-खिंची कछु रक्तिम रंग की,
स्मृत हुई द्रुत राजकुमार को
सुखद बात पुरातन प्रीति की—
"जिस प्रकार सविक्रम आज ही
भट हराकर मैं रंगभूमि में,
चल दिया तुमको संग ले प्रिये,
रह गई लखती जन-मण्डली,
"उस प्रकार पुरा, गत-जन्म में,
हम मृगेन्द्र रहे, तुम सिंहिनी,
अपर सिंह हराकर शक्ति से
कर लिया तुमको अपनी वधू।
"वह कथा तुम भूल गई, प्रिये,
पर मुझे सब सुस्मृत है अभी,
जब हिमालय-मध्य स्वतन्त्र मैं
समद कानन में फिरता रहा।
"सब हिला वन एक दहाड़ में,
भर छलांग रहा तरु कूदता।
लख समुत्थित सावन की नदी,
विशिख-सा ऋजु था द्रुत तैरता।
"रजनी को अति घोर प्रशान्ति में,
ठिठक भापस में घन-दर्भ के,

निकट गुप्त भयंकर मृत्यु-सा
लख वनेचर-वृन्द छलांगता।
"निरखता सित - पक्ष - विभावरी,
गहन में फिरता अति मोद से,
गवय पै, मृग पै कर घात मैं
अति प्रचंड दहाड़ दहाड़ता।
"दिवस एक घटी घटना प्रिये,
सरित के सुखदायक तीर पै,
निकल भूधर - गह्वर से यदा
हरि सभी स-कलत्र समूढ़ थे।
"लख तुम्हें अति रक्तिम कृत्ति की
सकल - सिंह - वधू - शिरमौर-सी,
लड़ पड़े सितपिंगल क्रोध में,
रमण की करके बहु लालसा।
"दशन से, नख से, कर युद्ध मैं,
विजय-प्राप्त बना रिपु जीत के,
चल पड़ीं मम संग तुरन्त ही
तुम पराक्रम - प्रेम - प्रदर्शिनी।
"उस प्रकार पराक्रम को दिखा
कर परास्त महाभट - यूथ भी,
वरण आज किया तुमको प्रिये,
मिल गईं मुझको मम संगिनी।
"यह लसी उस रक्तिम कृत्ति-सी
अरुण - मंडित मंगल - चूनरी,
विगत वस्तु उपस्थित हो गई,
वह कथा मुझको स्मृत हो गई।
"सकल संसृति के इस चक्र का
क्रम चला करता इस भाँति है,
विगत वस्तु पुनः मिलती यहाँ
जगत में बस कर्म प्रधान है।

'हृदय-वाञ्छित प्राप्त हुआ मुझे
मिल गई मुझको हृदयेश्वरी,
तुम मुझे सुखदा इस भाँति हो
जिस प्रकार शशांक चकोर को।
"सुन रही तुम हो मम वाक्य, या
लख रही नभ-ऋक्ष-प्रसार हो,
हृदय यों कहता, नभ हो लखूँ
अयुत लोचन से तुमको, प्रिये!
"तुम प्रिये, मम अध्रुव चित्त के
चलित तारक को ध्रुव-सी हुई,
मम समस्त - विचार - तरंगिणी
धँस गई तव रूप-समुद्र में।"
इस प्रकार परस्पर प्रीति का
कथन दंपति थे करते जभी,
लख प्रफुल्लित इन्दु वसन्त का,
मदन ने निज बाण चला दिया।

शार्दूलविक्रीडित

आता यौवन मेघ सा घिर जभी सीमंतिनी-अंग में,
होके पुरुष भी युवा जब बिना कालुष्य के सोहता
देता स्वर्ग-प्रकाश-अंशु मधु के सत्पुष्प को फुल्लता,
व्रीड़ा और अधैर्य के समर में क्या जीतना-हारना।

मोहनलाल महतो 'वियोगी'

# पृथ्वीराज

( आर्यावर्त से )

रात शेष हो गयी न आयी नींद फिर भी
निद्राहीन राजा जयचन्द हैं शिविर में।
बार-बार पीता है सुरा का पात्र भरकर,
व्याकुल हो घूमता है घोर मनस्ताप में।
आज मदिरा भी उसे शांति नहीं देती है—
अन्तर की अग्नि कभी निर्वापित होती है
चाहे कोई सागर का पान करे व्यग्र हो?
आँखों में पड़ के कणी भी कभी बालू की
व्यग्र कर डालती है मन को, शरीर को
किंतु यदि ज्वालामय बाण बिंधे उर में
उस मर्मान्तक व्यथा का चित्र, हाय रे!
कौन आँक सकता है, भुक्तभोगी छोड़ के!!
जयचन्द ऐसा एक छिद्र बना बाँध का
हाहाकार करता प्रविष्ट हुआ जिससे
कल्लोलित सिन्धु, जलप्लावन मचा दिया।
डूब गई सारी शस्यश्यामला धरित्री
डूब गये ग्राम, जनपद क्षण भर में।
पीठ ठोक शत्रु को बुलाया निज घर में,

गंगा से नहर काट द्वार तक अपने
मूढ़ ज्यों बुलाता है कराल काल नक्र को
आँगन में—कैसे हो कुशल उस नीच का।
अन्तर कलह का विराट् रूप यह था
स्वाहा हुआ ग्राम एक घर के प्रदीप से!
रात शेष हो गयी, न आयी नींद फिर भी
निद्राहीन राजा जयचन्द है शिविर में
घोर मनस्ताप की चिता में जलता हुआ,
घूमता है, रोता कभी और कभी हँसता।
शंकाकुल प्रहरी हैं देख दशा राजा की
एक दूसरे को कर इंगित जताता है
सारी इतिवृत्त भयपूर्ण—मूक भाव से।
पायी जयचन्द ने विजय कूटनीति की,
किन्तु सुख--शान्ति हुई दूर तन-मन से।
गर्व परिणाम है विजय का किंतु गर्व से
शांति रहती है दूर—नीति का प्रमाण है।
शांति चाहती है सत्य, आत्म - बलिदान - त्याग
और गर्व चाहता है विश्व को निगलना—
कैसे फिर दोनों में समानता हो, ऐक्य हो।
जोर मारती है प्रतिहिंसा जब मन में
राजा सोचता है—"हम आज हुए विजयी।"
किन्तु जब आर्य-रक्त खौलता है तन में
घोर मनस्ताप से झुलस वह जाता है।
भीषण आघात-प्रतिघातों से विकल होके
सारी रात राजा ने गँवायी मद्यपान में
फिर भी न शांति मिली चिंता बढ़ी चौगुनी।
स्वर्णचूड़ बोले, हय हींसे, गज गरजे,
शीतल समीर आया कुछ थहराता-सा।
चुपचाप रात भागी ठंढी साँस छोड़ के;
एक-एक करके नखत भागे भय से,

पराधीन भारत के प्रांगण में रोता-सा
प्रथम प्रभात आया—रात शेष हो गयी!
प्रहरी ने आकर निवेदन किया—"प्रभो,
दूत बादशाह का है आज्ञा की प्रतीक्षा में"
"भेजो यहाँ।"—रुक के निदेश दिया राजा ने,
काँप गया शंकाग्रस्त हृदय महीप का,
गोरी ने बुलाया था तुरन्त महाराज को।
दूर समरस्थली से दुर्गम विपिन में
लाख-लाख शिविर खड़े हैं अरि-सेना के,
मानो हो गयी हैं स्थिर सागर की लहरें।
संख्यातीत अश्व, रथ, गज दिखलाते हैं—
गिन सकता है कौन कितने सिपाही हैं?
आज विजयोत्सव मनाती अरि-सेना है,
नाचते हैं वीर वीर-नृत्य उन्मत्त हो,
रण-वाद्य गूंजता है—काँपती दिशाएँ हैं।
रौंदकर छाती इस भाँति आर्य-भूमि की
भारत-विजेता विजयोत्सव मनाते हैं!
एक ओर गोरी का विशाल दरबार है,
घूमते हैं रक्षक कृतान्त से भयावने
नंगी तलवार लिये और चर्म पहने।
आँखें चौंधियातीं हैं, हृदय थहराता है,
काँपती है भूमि थर-थर पद-भार से!
फारस का मृदुल गलीचा है बिछा हुआ।—
यूथपति, दलपति, सेनापति बैठे हैं,
पंक्ति-बद्ध, मोड़े घुटनों को वीर भाव से
रखकर सामने कृपाण ढाल गैंड़े की!
मानो सभा सज्जित हुई हो दशग्रीव की
मेघनाद, कुम्भकर्ण आदि वीर बैठे हों!
बैठा है यवनपति स्वर्ण-सिंहासन पर
मणिमय सुन्दर चँदोवा है तना हुआ;

फैल रही चारों ओर रत्नसंभवा-विभा
बायीं ओर बैठा जयचन्द नत-भाव से।
यत्न करता है मोदपूर्ण दिखलाने का;
किंतु नरकाग्नि जो हृदय में धुँधुआती है,
उसके धुएँ से मुख म्लान हुआ जाता है।
संभव है, अस्त्र के भयानक प्रहारों को
कौशल से कोई भी छिपा ले; किन्तु मन की
पीड़ा छिपती है कभी, हँसके भुलाने में?
उच्च स्वर्ण-दंड में पताका गजनी की यों
हाय—लहराती मानो छाती पर देश की
साँप लोटता हो! लाल किरणें दिनेश की,
मूर्च्छित पड़ी हों उस केतु पर शोक से;
किंवा किया सिक्त उसे भारत के भानु ने
अपने हृदय के घोर ज्वालामय रक्त से;
बोला शाह गोरी—"महाराज जयचन्दजी,
आप की दया से हम विजयी हुए यहाँ।
दूर देशवासी हैं न जानते थे पथ भी
इस महादेश का, परन्तु मिला आपका
सफल सहारा—हैं कृतज्ञ हम आपके।
आज एक मेरा महावैरी शेष हो गया
शेल-सा बिंधा जो करता था मन-प्राण में।
छिन्न-भिन्न सेना हुई आज इस देश की
जैसे उड़ जाती घटा आँधी के थपेड़ों से।
मेरे इन्हीं वीर के पराक्रम से, शौर्य से
देखता हूँ आज शत्रुहीना-मही हो गयी।
आज यह देश मेरी जूतियों के नीचे है
चाहूँ इसे धूलि में मिला दूँ या क्षमा करूँ।
कौन है समर्थ इस कायरों के देश में
रोके जो हमारी गति, जूझे एक क्षण भी।
फिर भी सराहता हूँ वीरता मैं वैरी की;

हारा, किन्तु जीत से भी गौरवपूर्ण हार में।"
मौन हुआ गोरी देख चारो ओर गर्व से
सुनकर मत्त हुए जो-जो वहाँ बैठे थे,
फूल उठी छाती कड़ी तड़की कवच की,
खींच लिया खंग कुछ वीरों ने तड़प के
होके रणोन्मत्त से, दहाड़ उठे सिंह ज्यों
गूँजा वन, काँप गयी धरणी अधीरा हो!
नतसिर जयचन्द डूब मरा लज्जा में
किंतु हँसने का कुप्रयत्न करने लगा।
उसकी हँसी थी ऐसी देख सहृदय की
छाती फट जाती घोर पीड़ा के प्रहार से!
बोला फिर गोरी—"महाराज, हम मित्र हैं
आज एक साथ विजयोत्सव मनावेंगे।
रण शेष हो गया परन्तु इन वीरों की
रण-लालसा है अभी शेष पूर्ण रूप में।
ऐसा कौन वीर अब शेष है जो रण में
एक बार जूझे इन सिंहों से दहाड़ के?"
"कोई नहीं"—बोला जयचन्द श्रांत-स्वर में
"कोई नहीं ऐसा जो बजावे लोहा आपसे।
आज वीरहीना हुई भारत-वसुंधरा
वीर-प्रसू, वीर--भूमि आज पराधीना है।
ठीक है कि जूतियों के नीचे बादशाह के
सारा देश मूर्च्छित पड़ा है हत-तेज हो
आपकी दयाश्रिता है आर्यभूमि फिर भी···।"
चुप जयचन्द हुआ सहसा सहमकर
चौंक कर पूछा महामानी वीर गोरी ने--
"फिर भी क्या? बोलो महाराज मैं सुनूँ जरा।"
"फिर भी यही कि"—जयचन्द बोला धीरे से—
"आप दया--मूर्ति हैं, भरोसा इतना ही है।"
क्षणमात्र के लिए विषाद--तम छा गया

चुप रहा गोरी एक बार दाँत पीस के।
घिर आयी चोभ की भयावनी घटा वहाँ
किन्तु बिना बरसे घुमड़ती चली गयी।
कुछ क्षण सोच के सरोष तीव्र स्वर में
बोला बादशाह--यहाँ लाओ सम्राट् को
सीकड़ों से बाँधकर—वैरी बलवान है।"
खौल उठा रक्त जयचन्द का तथापि वह
मूर्तिवत् बैठा रहा घोर अपमान के
सहके प्रहार भी ज्यों प्राणहीन देह हो।
झनझन शब्द हुआ दूर पर, आता हो
जैसे मत्त नागपति, स्तब्ध सभा हो गयी,
छाया आतंक रणबाँकुरों के मन में।
गोरी भी सतर्क होके बैठा, जयचंद ने
सोचा यदि भूमि फट जाती किसी भाँति तो
उसमें समा के त्राण पाता चक्षु-लज्जा से।
दीख पड़ा एक दल सैनिकों का व्यग्र सा
आ रहा था नंगी तलवारें लिये कर में
घेरे सम्राट् को सतर्कता के भाव से।
चमक रहे थे असि, वर्म, सिरस्त्राण आदि
रक्त में लपेटे-से प्रभात की किरण में,
दूर तक नभ में विकीर्ण छटा होती थी।
यह दल आया दरबार में तत्त्वण ही
बैठे जितने थे वे ससंभ्रम खड़े हुए।
गोरी ने कठोरता से कब्ज़ा तलवार का
पकड़ा—अभागा जयचन्द व्यग्र हो उठा।
लौह-शृंखला में बँधा जैसे कविराज हो
महाराज दिल्लीपति आये दरबार में।
मूँछें थीं चढ़ी हुई, कठोर मुखमुद्रा थी,
मानो लौह-निर्मित प्रचंड भुजदंड थे।
साँड़-जैसे कंधे, था शिला-सा वक्ष, क्षीण कटि

जैसे मृगराज की हो—उन्नत शरीर था।
भृकुटि कुटिल, नेत्र श्येन-से सतेज थे
गति गम्भीर थी, परन्तु पद पद-से
होता था ध्वनित विकराल क्रोध मन का
भारत का पुंजीभूत गौरव-सा केसरी
दीख पड़ता था खड़ा मूर्त्तिमान् काल ज्यों!
मुश्कें कसी थीं, बेड़ियाँ थीं पड़ी पैरों में
सिर पर नंगी तलवारों की चमक थी!
घेरे थे सिपाही पर दूर-दूर सब थे।
जिस ओर ज्वालामयी दृष्टि पड़ जाती थी
कूदकर पीछे अस्त्रधारी हट जाते थे,
कौन ऐसा वीर है खड़ा जो रहे सामने
छाती तान कालमूर्त्ति भीषण दुनाली के?
साहस हुआ न जयचन्द को कि एक बार
आँखें भर देखे महाराज पृथ्वीराज को।
भारत-विजेता गोरी हततेज हो गया
जैसे हो प्रदीप चपला की चकाचौंध में
तेजहीन ढीले कटिबंध हुए वीरों के
पड़ कर सामने हठात् भूखे व्याघ्र के
जैसी गति होती है शिकारी की विपिन में!
बोले सम्राट् देख चारों ओर रोष से
"गोरी, क्या विचार है- बुलाया क्यों मुझे यहाँ
यह जो तुम्हारे पास स्वर्ण-सिंहासन पर
देश-द्रोही कायर है बैठा महागर्व से
कल था कहाँ यह उस अंतिम समर में?
उड़ते थे सीस-बाँह कटकर बाणों से
नाचती थी चंडी, रक्त-सिंधु लहराता था।
हाय, यही दुःख है कि कल यदि पाता इसे
आज पछतावा रहता न पराजय का
विश्व देख लेता परिणाम देश-द्रोह का।"

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] है—इसे दूर करो दृष्टि से।"
[illegible] नहीं गया [illegible]-विवाद में
[illegible] सिंहासन [illegible]
[illegible] दूसरे को
पीछे [illegible] में
[illegible] प्रवेश है [illegible] हिलोरों से
पीछे रहता है [illegible] में।
[illegible] जयचन्द को
छोड़कर गोरी ने चिल्लाया क्रोध से—
"पृथ्वीसिंह महाराज, इसी वीरता के बल पर
आप बोले हैं तलवार—धिक्कार है!
क्या कर सकेगा यह गंदी बाला आपका
हिल सकता भी नहीं अपनी जगह से।
बोला कुछ बढ़ के समीप, दृढ़ वाणी से—
"दिल्लीपति, ऐसी ही व्यवस्था किये देता हूँ

जिससे भविष्य में न आप कभी भूल के
देखें महाराज वीर-श्रेष्ठ जयचन्द को।
लाओ दो शलाखें लाल करके अभी यहाँ
आँखें लो निकाल महाराज दिल्लीश्वर की
देखने की चिंता से छुड़ा दो सम्राट् को।"
सुनकर गोरी का निदेश जयचन्द ने
चाहा कुछ करना निवेदन परन्तु हा,
भय ने दबाया गला कंठ रुद्ध हो गया।
होता है न साहस पतित के हृदय में
सक्रिय विरोध करने का---अन्याय का!
बोले सम्राट्—"धिक्कार है यवनपति,
वीरोचित धर्म नहीं सीकड़ों में बाँध के
अत्याचार करना असंख्य धिक्कार है!
कायरों-सा कर्म है तुम्हारा—सारी वसुधा
नित्य धिक्कारेगी तुम्हारी इस नीति को।
साहस हो, खोलो सीकड़ों को तलवार दो
सामने खड़े हो फिर देखो क्षण-भर में
बाजी लौट आती है महान् आर्य-देश की।
मान जावें पंच हम पाव भर लोहे को
दे दो शेष निर्णय का भार तलवार को।"
एक बार पीसकर दाँत महायोद्धा ने
मारा झटका तो छिन्न-भिन्न हो के शृंखला
छिटक गयी यों मानो ओले पड़े नभ से।

गरजा सरोष महाबाहु-बल-विक्रमी
तोड़ डाला बेड़ियों को खींच क्षण भर में
कौंध गयी बिजली सभा में, भयत्रस्त हो
योद्धा जितने थे अस्त्र-शस्त्र निज फेंक के
भागे हल्के हो, एक दूसरे को रौंदते।
फैल गया हाहाकार सेना के शिविर में
कूदा सिंह मानो आन बैठे मृगयूथ में।

भाग चले गोरी आदि और रणावांकुरो ने
घेर लिया अस्त्र-शस्त्र लेके सभा-भूमि को।
गोरी का निदेश हुआ—"जीता ही पकड़ लो
किंतु कौन जाता मरने को वहाँ स्वेच्छा से
था जहाँ कृतान्त - सा कराल वीर केशरी
बन्धन - विमुक्त हो कृपाण लिये कर में।
दिल्लीपति बोले—"शीघ्र भेजो जयचन्द को
आज मैं मिटा दूँगा कलंक आर्यभूमि का।"
स्तंभित सिपाही हुए रौद्रमूर्ति देख के
काँप उठा पत्ता - सा हृदय एक-एक का।
चित्रवत् सेना घेर चारों ओर थी खड़ी
घूमता था दिल्लीपति बीच में मृगेन्द्र-सा।
जिस ओर आगे बढ़ता था रौद्र तेज से
विद्युत कौंध जाती, भगदड़ मच जाती थी।
लाये गये फंदे, कुछ साहसी सुभट मिल
फांसने का यत्न लगे करने नरेन्द्र को
घेरकर शिक्षित गयंदों से, परन्तु गज
खाके बार-बार गजबांक के प्रहार भी
पीछे हटते थे—चिंग्घाड़कर भय से!
चमक रही थी तलवार आर्यपुत्र की
आँखे झुलसाती हुई कौंधा के समान ही।
मानो लिये ज्वालामय वज्र निज कर में
वज्री वीर वासव घिरा हो मेघ-दल से!
सुंड कटे कितने गजों के और कितनों के
मस्तक विदीर्ण हुए प्रबल प्रहारों से
चारों ओर रक्त का आवर्त बना वीर के
जैसे रवि राजता हो मध्य परिवेश के!
आ गयी दुपहरी दिनेश मध्य नभ में
स्वर्ण रथ रोक लगे देखने स्ववंश के
अंतिम प्रदीप का प्रकाश रण-झंझा में।

वायु गतिहीन हुई - मानो साँस रोक के
देखता निसर्ग हो फलाफल समर का।
एक ओर पूरी सैन्य-शक्ति गजनीश की,
एक ओर भारत का शेष आर्य वीर था।
किन्तु हततेज थे असंख्य तारा-तारापति
भासमान केवल था भास्कर भुवन में।
दिल्लीपति एक था तथापि रह विद्युत-सा
यत्र-तत्र - सर्वत्र कौंधता था वेग से।
घेरे थे सिपाही, गजारोही हो चकित-भीत,
किस ओर वीर है समझना कठिन था।
कितने गयंद भागे रौंदते सिपाहियों को
हाहाकार छा गया विकल गोरी हो उठा!
एक बार हल्ला बोल फिर अरि टूट पड़े
घेरा किया छोटा फिर फंदे लगे फेंकने।
शत-शत रेशम की डोरियाँ थीं—हाय रे,
काट सकता था कितनों को—यमपाश से
मुक्ति है असंभव, पराक्रम भी व्यर्थ है।
देखते ही देखते विवश वीर हो गया
मानो आंजनेय बँधे घोर ब्रह्मफाँस में
अङ्ग-प्रत्यंग कसा वीर आर्य पुत्र का
छा गयी हुलास की लहर अरिदल में।
यद्यपि विवश थे नरिन्दर पर साहस था
किस रग रोंकुरे में, जाता जो निकट भी।
आया तब गोरी तलवार लिये सहसा
आया जयचन्द महाव्यग्र-सा, सभीत-सा
भूमि में पड़ा था फँसा रस्सियों के फंदे में
अभिमान-मर्दन सपूत आर्यभूमि का।
बोला तीव्र स्वर में कटाक्ष करता हुआ
गोरी—"अहा, दिल्लीपति धूलि में हैं लोटते
आज सम्राट् हैं, धनी हैं तलवार के

उठिये, हमारी यह धृष्टता क्षमा करें।"
उत्तर दिया यों दाँत पीस के नृपेन्द्र ने
"इच्छा कर पूरी—मत विद्ध कर मर्म को
इन वाक्य-बाणों से, अटल विधि रेखा है।"
बोला फिर गोरी—"महाराज, अब आपकी
इच्छा करता हूँ पूर्ण शीघ्र—अरे दौड़ के
लाओ दो शलाखें लाल करके नरेन्द्र की
आँखें लो निकाल—इन्हें देखने से मुक्ति दो।"
पृथ्वीराज बोले—"हाय भारत वसुन्धरे;
आर्य भूमि, आर्यावर्त, आर्यप्रतिपालिता !
एक बार देख लूँ तुम्हारी सौम्य मूर्ति मैं
आँखें भर, संभव नहीं है इस जन्म में
देखूँगा तुम्हारा शस्यश्यामला स्वरूप मैं,
फैले दूर-दूर तक खेत मनभावने,
स्वर्णमय शस्य पर संध्या के समीर का
खेलना, उठाना हाय लहरें समुद्र-सी
मानों लहराता स्वर्ण अंचल तुम्हारा हो।
ग्रीकों के विजेता की पताका किसी काल में
हाय लहराई इसी अम्बर के नीचे थी।
एक बार देख लूँ मैं भारत के नभ को !
बार-बार गूँजा था हमारी मातृभूमि के
जय-जयकार नाद से वही तो यह नभ है
कल गूँजेगा जो असंख्य पराधीनों के
रोदन-विलाप से, विफल हाहाकार से।
साक्षी हैं दिनेश, आर्य-जाति की विजय के,
साक्षी हैं दिनेश, आर्य-जाति के विभव के
आज बनो साक्षी देव, घोर पराजय के
आज बनो साक्षी आर्यभूमि के विनाश के।
भारत के भानु का उदय आज देखा था
अच्छा हुआ, देखूँगा न अस्त दिनमणि का।"

आ गयीं शलाखें लाल होकर तुरंत ही—
"आँखों में घुसेड़ दो।"-पुकार कहा गोरी ने
किंतु चढ़ी त्योरियाँ विलोक सम्राट् की
आगे बढ़ने से डरते थे जल्लाद भी।
गोरी फिर गरजा—"अपाहिजो, क्या भय है!
आँखें लो निकाल, जो विलम्ब किया अब तो
खाल खिंचवा लूँगा इसी दम खड़े-खड़े!"
दौड़े जल्लाद चढ़ छाती पर वीर की
आँखों में घुसेड़ दीं शलाखें लाल जलतीं
कम्पित करों से, बन्द आँखें कर अपनी।
छुन-छुन शब्द हुआ और धुआँ निकला
फिर रक्तधार का फुहारा चलने लगा!
जयचन्द आँखें मूँद दीर्घश्वास छोड़ के
पीछे हटा किंतु वह कल्पना की आँखों को
कैसे बन्द करता प्रयत्न लाख करके।
आया चित्र पहले स्वतन्त्र आर्य-जाति का
आया फिर, दूसरा घृणित चित्र आज का,
एक चित्र में था भरा रंग स्वाभिमान का
दूसरे पै कालिख पुती थी अपमान की।
रख कर दोनों को समक्ष आह भर कर
राजा जयचन्द लगा देखने विफल हो।

× × ×

आह भी न निकली नरेन्द्र के हृदय से
फूट गयी आँखें और साथ उन्हीं आँखों के
क्षणमात्र में ही भाग्य फूटे आर्य भूमि के।
बोले महाराज पृथ्वीराज क्रोध भरके
"धन्यवाद गोरी—यह अच्छा किया तुमने,
देख मैं सकूँगा नहीं अब इस जन्म में
तेरे द्वारा दलित-पवित्र-मातृभूमि को"

श्यामनारायण पाण्डेय

# युद्ध का अन्त

('हल्दीघाटी' से)

रजनी भर तड़प-तड़प कर
घन ने आँसू बरसाया।
लेकर संताप सवेरे
धीरे से दिनकर आया॥

था लाल वदन रोने से
चिन्ता का भार लिये था।
शव-चिता जलाने को वह
कर में अंगार लिये था॥

निशि के भीगे [illegible]
उतरी किरणों की [illegible]
बस लगी जलाने [illegible]
रवि की जलती [illegible]

लोहू नमने से लोहित
[illegible] की नीलम बाहें,
सर्दी-गर्मी से सहकर
[illegible] यहाँ भी लायें

लड़ते-लड़ते जब असि पर,
गिरते कटकर मर जाते।
तब इतर श्वान उनको भी
पथ-पथ घसीटकर खाते॥

आँखों के निकले कींचर,
खोखार-लार, मुरदों की।
सामोद चाट, करते थे
दुर्दशा मतंग - रदों की॥

उनके न दाँत धँसते थे
हाथी की दृढ़-खालों में।
वे कभी उलझ पड़ते थे
अरि - दाढ़ी के बालों में॥

चींटी मगीट चढ़ जाते
गिरि की उन्नत चोटी पर।
गुर्रा-गुर्रा भिड़ते थे
वे सड़ी-गली बोटी पर॥

ऊपर मँडरा - मँडरा कर
चीलें चिट कर देती थीं।
लोहू - मय लोथ झपटकर
चंगुल में भर लेती थीं॥

[illegible] में, गोदों में,
[illegible] घसीटकर लाते,
[illegible]
[illegible]॥

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]॥

इस स्मृति से ही राणा के
उर की कलियाँ मुरझाईं।
मेवाड़-भूमि को देखा,
उसकी आँखें भर आईं॥

अब समझा साधु सुधाकर
कर से सहला-सहलाकर।
दुर्दिन में मिटा रहा है
उर-ताप सुधा बरसाकर॥

जननी-रक्षा-हित जितने
मेरे रणधीर मरे हैं,
वे ही विस्तृत अम्बर पर
तारों के मिस बिखरे हैं॥

मानव-गौरव-हित मैंने
उन्मत्त लड़ाई छेड़ी।
अब पड़ी हुई है माँ के
पैरों में अरि की बेड़ी।

पर हाँ, जब तक हाथों में
मेरी तलवार बनी है,
सीने में घुस जाने को
भाले की तीव्र अनी है॥

जब तक नस में शोणित है
श्वासों का ताना-बाना,
तब तक अरि-दीप बुझाना
है बन-बन कर परवाना॥

घासों की रूखी रोटी,
जब तक सोते का पानी।
तब तक जननी-हित होगी
कुर्बानी पर कुर्बानी॥

आँसू की पावन गंगा
आँखों से झर-झर निकली।
नयनों के पथ से पीड़ा
सरिता-सी बहकर निकली ॥

भूखे - प्यासे - कुम्हलाये
शिशु को गोदी में लेकर।
पूछा, "तुम क्यों रोती हो
करुणा को करुणा देकर ॥"

अपनी तुतली भाषा में
वह सिसक-सिसककर बोली,
जलती थी भूख तृषा की
उसके अन्तर में होली ॥

'हा, छही न जाती मुझछे
अब आज भूख की ज्वाला।
कल छे ही प्याछ लगी है
हो लहा हिदय मतवाला ॥

माँ ने घाछों की लोती
मुझको दी थी खाने को,
छोते का पानी देकल
वह बोली भग जाने को ॥

अम्मा छे दूल यही पल,
छूखी लोती खाती थी।
जो पहले छुना चुकी हूँ,
वह देछ-गीत गाती थी ॥

छच कहती केवल मैंने
एकाध कवल खाया था।
तब तक बिलाव ले भागा
जो इछी लिए आया था ॥

छुनती हूँ तू लाजा है
मैं प्याली छोनी तेली।
क्या दया न तुझको आती
यह दछा देखकल मेली॥

लोती थी तो देता था,
खाने को मुझे मिथाई।
अब खाने को लोती तो
आती क्यों तुझे लुलाई॥

वह कौन छत्रु है जिछने
छेना का नाछ किया है?
तुझको, माँ को, हम छबको,
जिछने बनबाछ दिया है॥

यक छोती छी पैनी छी
तलवाल मुझे भी दे दे।
मैं उछको माल भगाऊँ
छन मुझको लन कलने दे॥'

कन्या की बातें सुनकर,
रो पड़ी अचानक रानी।
राणा की आँखों से भी
अविरल बहता था पानी॥

उस निर्जन में बच्चों ने
माँ-माँ कह-कहकर रोया।
लघु-शिशु-विलाप सुन सुनकर
धीरज ने धीरज खोया॥

वह स्वतन्त्रता कैसी है
वह कैसी है आज़ादी।
जिसके पद पर बच्चों ने
अपनी मुक्ता बिखरा दी॥

सहने की सीमा होती
सह सका न पीड़ा अन्तर।
हा, सन्धि-पत्र लिखने को
वह बैठ गया आसन पर॥

कह 'सावधान' रानी ने
राणा का थाम लिया कर।
बोली अधीर पति से वह
कागद मसिपात्र छिपाकर॥

"तू भारत का गौरव है,
तू जननी - सेवा - रत है।
सच कोई मुझसे पूछे
तो तू ही तू भारत है॥

तू प्राण सनातन का है
मानवता का जीवन है।
तू सतियों का अञ्चल है
तू पावनता का धन है॥

यदि तू ही कायर बनकर
वैरी से सन्धि करेगा।
तो कौन भला भारत का
बोझा माथे पर लेगा॥

लुट गये लाल गोदी के
तेरे अनुगामी होकर।
कितनी विधवाएँ रोतीं
अपने प्रियतम को खोकर॥

आज़ादी का लालच दे
झाला का प्रान लिया है।
चेतक-सा बाजि गँवाकर
पूरा अरमान किया है॥

तू सन्धि-पत्र लिखने का
कह कितना है अधिकारी ?
जब बन्दी माँ के दृग से
अब तक आँसू है जारी ॥

थक गया समर से तो अब,
रक्षा का भार मुझे दे।
मैं चण्डी-सी बन जाऊँ
अपनी तलवार मुझे दे ॥"

मधुमय कटु बातें सुनकर
देखा ऊपर अकुलाकर,
कायरता पर हँसता था
तारों के साथ निशाकर ॥

भाला सन्मुख मुसकाता
चेतक धिक्कार रहा है।
असि चाह रही कन्या भी
तू आँसू ढार रहा है ॥

मर मिटे वीर जितने थे
वे एक-एक कर आते।
रानी की जय-जय करते,
उससे हैं आँख चुराते ॥

हो उठा विकल उर-नभ का
हट गया मोह-घन काला।
देखा वह ही रानी है
वह ही अपनी तृण-शाला ॥

बोला वह अपने कर में
रमणी-कर थाम "क्षमा कर,
हो गया निहाल जगत में,
मैं तुझ-सी रानी पाकर।"

गुरुभक्त सिंह

# प्रेम की विजय

( 'नूरजहाँ' से )

बेटी ! समझ नहीं कुछ पड़ता तुझे यहाँ क्या दुख है।
जो कुछ भी सम्भव हो सकता यहाँ सभी वह सुख है॥
जी बहलाओ नज़र बाग़ में रम्य बहुत है सुन्दर।
है पाषाण कोट मुँदरी में नग सा जड़ा महल वर॥
दीवारों में परम दिव्य तसवीरें कढ़ी हुई हैं।
स्तम्भों पर लहरें ले ले मणि बेलें चढ़ी हुई हैं॥
प्रातम्भों पर लेट रही हैं स्वर्णखचित छत डाटें।
झंझरीदार वेदिकाओं से घिरी हुई हैं बाटें॥
शीतल हौजों में गुलाब के छुटते हैं फौवारे।
नीलम के नभ में हीरक के जड़े हुए हैं तारे॥
नरम नरम कालीन गलीचे बिछे हुए हैं भू पर।
रंग रंग के नग करते हैं जग मग नीचे ऊपर॥
स्वाभाविक रंगों में चित्रित है विहगों की टोली।
ऐसी गढ़ी मूर्ति है मानों अब बोली तब बोली॥
है वह स्नानागार मनोरम झिलमिलियों के भीतर।
है गुलाब जल की धारा बहती जिसमें से हो कर॥
स्वर्ण खचित वे कलश कँगूरे वह तोरण की झालर।
अलंकारमय टोड़ों पर अलिन्द यमुना के ऊपर॥

वास्तुकला की पराकाष्ठा का अनुपम एक नमूना ।
फिर भी ऐसा महल मनोरम लगता तुमको सूना ॥
ऐसे स्वर्ग लोक में भी क्यों उठती दुःख घटाएँ ।
खड़ी दासियाँ मुँह लखती हैं कितनी दायें बायें ॥
सम्भव सब विलास सामग्री, हर इच्छा का साधन ।
है मौजूद भोग करने को औ' बहलाने को मन ॥
फिर तुम क्यों निःश्वासें ले यों उदासीन हो रहती ।
बहुत पूछने पर भी कारण कभी नहीं हो कहती ॥
रखने को प्रसन्न रहते हैं बादशाह भी चिंतित ।
तुमसे दो बातें करने को मेरे संग आते नित ॥
पर देखा भी नहीं आज तक तुमने आँख उठाकर ।
वे चुपके से चल देते हैं तुम्हें दुखी यों पाकर ॥
जब तुम थीं बीमार विकलता उनकी लखी न जाती ।
गहरी निःश्वासों की लहरी से चंचल थी छाती ॥
दृगकोनों में नहीं समाकर बड़े बूँद आँसू के ।
तेरा अंचल रहे भिगोते छलक बरौनी छू के ॥
कृष्णपक्ष के शशि समान तुम रहीं पाख भर घटती ।
पर चकोर सी उनकी आँखें नहीं कभी थीं हटती ॥
हम सब की आँखें लग जाती पर वे कभी न सोये ।
तेरे पीत राग में लाली भरते थे दृग कोये ॥
तेरी नाड़ी ही की गति पर उनका हृदय धड़कता ।
स्वास्थ्य सुधरता देख हर्ष से उनका अंग फड़कता ॥
उपचारों में सदा निरत थे सब कुछ किया कराया ।
तुझ पर न्यौछावर धन करके पानी तुल्य बहाया ॥
प्रथम बार जब आँख खोलकर तुमने उनको देखा ।
उनके उस अपार हर्षों की कौन कर सके लेखा ॥
वह सुख लूट तुरत ही बाहर सम्मुख से उठ आये ।
जिसमें तेरा सुप्त भाव फिर कहीं नहीं जग जाये ॥
मन में ग्लानि उन्हें रहती है निज अभाग्य लख लख कर ।
तेरी प्रतिमा पूजा करते मन मन्दिर में रखकर ॥

समझदार हो, सरस हृदय हो, फिर क्यों है निठुराई ।
दो ही दिन है चारु चन्द्रिका फिर अँधियाली छाई ॥
शोक तुम्हें था बहुत मनाया चार बरस तक रोई ।
धैर्य्य धरो, जी नहीं सकेंगी जो रूहें हैं सोई ॥
धर्म बताता है जी देना पाप महा भारी है ।
जीवन मरण प्रश्न ही में तो मानव लाचारी है ॥
इससे सोचो, थोड़ा जीवन मत चिंता में खोओ ।
पतझड़ के वियोग में लतिके ! मत विशेष अब रोओ ॥
वनमाली वह दूर खड़ा है दौड़ उसे तुम छू लो ।
जान बूझ कर दुखी बनो मत बीती बातें भूलो ॥
लोक रीति है, हुक्म खुदा है, अनुमति जान हमारी ।
हिन्द देश की साम्राज्ञी बन पुरखो साधें सारी ॥

× × ×

"अम्मी ! अब्बा कहां गये वह नहीं चलोगी क्या घर ।
पर वह मुझे मारते रहते उनसे लगता है डर ॥
मुझे प्यार करने में भी वह कष्ट बड़ा देते हैं ।
कड़ी कड़ी दाढ़ी गालों में गड़ा गड़ा देते हैं ॥
अच्छा यहीं रहो तुम मेरे सखी सखा ये सारे ।
मेरे संग खेलने वाले मुझे बहुत हैं प्यारे ॥
वह गाने की टोपी वाले भी हैं प्यार दिखाते ।
भाँति भाँति के नये खिलौने मुझे नित्य हैं लाते ॥
मुझे उठाकर ऊपर तरु से मीठे फल तोड़वाते ।
रंग-रंग की तितली मुझको पकड़ पकड़ दे जाते ॥
मैं उनके पर के रंगों को छुड़ा हाथ में लेती ।
मुझे चूमने जब चलते उनके मुँह में मल देती ॥
खूब मिठाई और खिलौने देते ये रहते हैं ।
मेरा ब्याह तुम्हीं से, बस, कर देने को कहते हैं ॥
खूब धूम से बाजा बजवा दुलहिन मुझे बना दें ।
अम्मी ! उनसे कह दो मेरा जल्दी ब्याह करा दें ॥"

गीत उड़ा, सुर टूटा, बिखर चली, जीवन की धार।
पाके तेरी आँखों वाली प्याली मुझे पिलाये ॥
मेरा स्वाद ! न जाने कब हो ! कौन कसक दिखाने ?
जीवन की खुशी में कुम्हला कर पड़ गई इसमें ॥

रक्त बहाने पर भी मैं जो उन्हें नहीं पाऊँगी।
खूनी बन कलंक का टीका कभी न लगवाऊँगी।
कभी नहीं मैं ढरकाऊँगी जीवन प्याला पीओ।
रक्खो यह तलवार म्यान में मरो नहीं तुम जीओ ॥"
"जीना क्या अब जब मेरी छाया से तुम डरती हो।
जीना क्या जब घृणा नाम ही से मेरे करती हो ॥
जीना क्या जब हो विरक्त तुम जीवन देने जातीं।
जीना क्या जब उठी न सम्मुख ये आँखें मदमातीं ॥
छोड़ो उदासीनता सारी रहो चलो हिल मिलकर।
और नहीं तो इस जीने से मरना ही है बेहतर ॥"
"घृणा नहीं है, फिर भी मैं जी खोल नहीं मिल सकती।
किन्तु कुमुदिनी दिनकर सम्मुख कैसे है खिल सकती ॥
प्रेम नहीं सम्भव फिर भी आदर से तुमको लखती।
किसी पुजारिन की श्रद्धा औ' भक्ति सदा हूँ रखती ॥
इस पवित्र रेखा से बाहर पग पर नहीं धरूँगी।
दूर दूर ही से पूजा दिनकर की किया करूँगी ॥
मैं हूँ निशा दूर ही से झाँकी रवि की करने दो।
किसी वियोगिन सा स्यापे में रो आँसू भरने दो ॥
रोती रहूँ सदा ही चाहे दर्शन को ललचाऊँ।
नहीं आँख भर रवि को सम्मुख कभी देख मैं पाऊँ ॥
दर्शन करके केवल क्षण भर मैं हूँ मुस्का लेती।
अपने जीवन की अंधियारी ज़रा दूर कर देती ॥
दृग मुक्ता उपहार बनाकर जहाँ चढ़ाने जाती।
अपनापन खो आँख बन्द कर लज्जा में खो जाती ॥
तुम्हें दूर से देख विलग रह रह रोना जीवन है।
मिलना सम्भव नहीं तुम्हारा छूना मुझे मरण है ॥"
"तुम प्रसन्न बस रहो, बनी ही रहे निगाह तुम्हारी।
नहीं प्रेम, पूजा का इच्छुक है यह भक्त पुजारी ॥
नहीं निशा, जीवन की मेरे तुम तो हो उँजियाली।
बिना तुम्हारे तो मुझको लगती दुनिया अँधियाली ॥

यदि था मेरे लिए सदा ही चक्कर रहा लगाता ।
पर तू सुधा दूर भगी भी नहीं मुझे था पाता ॥
ध्यान नहीं था किन्तु सुंदरी तेरे संग भी जाऊँ ।
तेरे लिए दे इनाम अपार मैं साथ बन भी जाऊँ ॥
मुझको और नहीं कुछ करना केवल इक अभिलाषा ।
पूरी कर देने की तुमसे रखता हूँ मैं आशा ॥
अगर कहो तो बतलाऊँ मैं पूरी उसको हो कर ।
छोड़ उसे कुछ और नहीं माँगूँगा मैं जीवन भर ॥"
"जाती हूँ अब, फिर सुन लूँगी किन्तु इस समय नहीं फिर ।"
यह कहकर चलि वही गोपकी भीड़ देखी फिर फिर ।

रामधारी सिंह 'दिनकर'

## भीष्म और युधिष्ठिर

('कुरुक्षेत्र' से)

आई हुई मृत्यु से कहा अजेय भीष्म ने कि
'योग नहीं जाने का अभी है, इसे जानकर,
रुकी रहो पास कहीं'; और स्वयं लेट गए
बाणों का शयन, बाण का ही उपधान कर।
व्यास कहते हैं, रहे यों ही वे पड़े विमुक्त,
काल के करों से छीन मुष्टि-गत प्राण कर;
और पंथ जोहती विनीत कहीं आसपास
हाथ जोड़ मृत्यु रही खड़ी शास्ति मानकर।

शृंग चढ़ जीवन के आर-पार हेरते-से,
योगलीन लेटे थे पितामह गभीर-से
देखा धर्मराज ने विभा प्रसन्न फैल रहा
श्वेत शिरोरुह शर-ग्रथित शरीर से।
करते प्रणाम, छूते सिर से पवित्र पद
उँगली को धोते हुए लोचनों के नीर से,
'हाय पितामह, महाभारत विफल हुआ'
चीख उठे धर्मराज व्याकुल, अधीर-से।

"वीर-गति पाकर सुयोधन चला है गया,
छोड़ मेरे सामने अशेष ध्वंस का प्रसार;
छोड़ मेरे हाथ में शरीर निज प्राणहीन,
व्योम में बजाता जय-दुन्दुभि-सा बार-बार;
और यह मृतक शरीर जो बचा है शेष,
चुप-चुप मानों पूछता है मुझसे पुकार--
'विजय का एक उपहार मैं बचा हूँ, बोलो,
जीत किसकी है और किसकी हुई है हार ?'

"हाय, पितामह, हार किसकी हुई है यह ?
ध्वंस-अवशेष पर शिर धुनता है कौन ?
कौन भस्मराशि में विफल सुख ढूंढ़ता है ?
लपटों से मुकुट का पट बुनता है कौन ?
और बैठ मानव की रक्त - सरिता के तीर
नियति के व्यंग्य-भरे अर्थ गुनता है कौन ?
कौन देखता है शवदाह बन्धु-बान्धवों का ?
उत्तरा का करुण विलाप सुनता है कौन ?

"जानता कहीं जो परिणाम महाभारत का,
तन-बल छोड़ मैं मनोबल से लड़ता;
तप से, सहिष्णुता से, त्याग से सुयोधन को
जीत, नई नींव इतिहास की मैं धरता;
और कहीं वज्र गलता न मेरी आह से जो,
मेरे तप से नहीं सुयोधन सुधरता;
तो भी हाय, यह रक्त-पात नहीं करता मैं,
भाइयों के संग कहीं भीख माँग मरता।

"किंतु, हाय, जिस दिन बोया गया युद्ध-बीज
साथ दिया मेरा नहीं मेरे दिव्य ज्ञान ने;
उलट दी मति मेरी भीम की गदा ने और
पार्थ के शरासन ने, अपनी कृपाण ने;

"बाल-हीना माता की पुकार कभी आती और
आता कभी आर्त्तनाद पितृहीन बाल का;
आँख पड़ती है जहाँ, हाय, वहीं देखता हूँ
सेंदुर पुछा हुआ सुहागिनी के भाल का;
बाहर से भाग कक्ष में जो छिपता हूँ कभी
तो भी सुनता हूँ अट्टहास क्रूर काल का;
और सोते-जागते में चौंक उठता हूँ, मानों,
शोणित पुकारता हो अर्जुन के लाल का।

"जिस दिन समर की अग्नि बुझ शान्त हुई,
एक आग तब से ही जलती है मन में;
हाय, पितामह, किसी भाँति नहीं देखता हूँ
मुँह दिखलाने योग्य निज को भुवन में;
ऐसा लगता है, लोग देखते घृणा से मुझे,
धिक् सुनता हूँ अपने पै कण-कण में,
मानव को देख आँखें आप झुक जातीं, मन—
चाहता अकेला कहीं भाग जाऊँ वन में।

"करूँ आत्मघात तो कलंक और घोर होगा,
नगर को छोड़ अतएव, वन जाऊँगा;
पशु-खग भी न देख पायें जहाँ, छिप किसी
कन्दरा में बैठ अश्रु खुल के बहाऊँगा;
जानता हूँ, पाप न धुलेगा वनवास से भी,
छिपा तो रहूँगा, दुःख कुछ तो भुलाऊँगा;
व्यंग्य से बिंधेगा वहाँ जर्जर हृदय तो नहीं,
वन में कहीं तो धर्मराज न कहाऊँगा।"

और तब चुप हो रहे कौन्तेय,
संयमित करके किसी विधि शोक दुष्परिमेय;
उस जलद-सा, एक पारावार
हो भरा जिसमें लबालब, किन्तु, जो लाचार—
बरस तो सकता नहीं रहता मगर बेचैन है।

किन्तु, है आवेगमय विस्फोट उसके प्राण का,
जो जमा होता प्रचण्ड निदाघ से,
फूटना जिसका सहज अनिवार्य है।

यों ही नरों में भी विकारों की शिखाएँ आग-सी
एक से मिल एक जलती हैं प्रचण्डावेग से,
तप्त होता क्षुद्र अन्तर्व्योम पहले व्यक्ति का,
और तब उठता धधक समुदाय का आकाश भी—
क्षोभ से, दाहक घृणा से, गरल, ईर्ष्या, द्वेष से।

भट्ठियाँ इस भाँति जब तैयार होती हैं तभी
युद्ध का ज्वालामुखी है फूटता
राजनीतिक उलझनों के ब्याज से
या कि देश-प्रेम का अवलम्ब ले

किन्तु, सबके मूल में रहता हलाहल है वही,
फैलता है जो घृणा से, स्वार्थमय विद्वेष से।

युद्ध को पहचानते सब लोग हैं,
जानते हैं, युद्ध का परिणाम अन्तिम ध्वंस है।
सत्य ही तो, कोटि का वध पाँच के सुख के लिए!

किन्तु, मत समझो कि इस कुरु-क्षेत्र में
पाँच का सुख ही सदैव प्रधान था;
युद्ध में मारे हुओं के सामने
थे नहीं उद्देश्य केवल पाँच के सुख-दुःख ही।

और भी थे भाव उनके हृदय में,
स्वार्थ के, नरता कि जलते शौर्य के;
खींच कर जिसने उन्हें आगे किया,
हेतु उस आवेश का था और भी।

है बहुत देखा-सुना मैंने मगर,
भेद खुल पाया न धर्माधर्म का,
आज तक ऐसा कि रेखा खींच कर
बाँट दूँ मैं पुण्य को औ' पाप को।

जानता हूँ किन्तु, जीने के लिए
चाहिए अंगार-जैसी वीरता,
पाप हो सकता नहीं वह युद्ध है
जो खड़ा होता ज्वलित प्रतिशोध पर।

छीनता हो स्वत्व कोई, और तू
त्याग-तप से काम ले, यह पाप है,
पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे
बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ हो।

बद्ध, विदलित और साधनहीन को
है उचित अवलम्ब अपनी आह का;
गिड़गिड़ा कर किन्तु, माँगे भीख क्यों
वह पुरुष जिसकी भुजा में शक्ति हो?

युद्ध को तुम निन्द्य कहते हो, मगर,
जब तलक हैं उठ रहीं चिनगारियाँ
भिन्न स्वार्थों के कुलिश-संघर्ष की;
युद्ध तब तक विश्व में अनिवार्य है।

और जो अनिवार्य है उसके लिए
खिन्न या परितप्त होना व्यर्थ है,
तू नहीं लड़ता, न लड़ता, आग यह
फूटती निश्चय किसी भी व्याज से।

पाण्डवों के भिक्षु होने से कभी
रुक न सकता था सहज विस्फोट यह,
ध्वंस से सिर मारने को थे तुले
ग्रह-उपग्रह क्रुद्ध चारों ओर के।

त्याग, तप, भिक्षा ? बहुत हूँ जानता मैं भी, मगर,
त्याग, तप, भिक्षा, विरागी योगियों के धर्म हैं;
या कि उसकी नीति, जिसके हाथ में शायक नहीं;
या मृषा पाषण्ड यह उस कापुरुष बलहीन का
जो सदा भयभीत रहता युद्ध से यह सोचकर
ग्लानिमय जीवन बहुत अच्छा, मरण अच्छा नहीं ।

त्याग, तप, करुणा, क्षमा से भींगकर
व्यक्ति का मन तो बली, होता मगर,
हिंस्र पशु, जब घेर लेते हैं उसे,
काम आता है बलिष्ठ शरीर ही ।

और तू कहता मनोबल है जिसे,
शस्त्र हो सकता नहीं वह देह का;
क्षेत्र उसका वह मनोमय भूमि है
नर जहाँ लड़ता ज्वलन्त विकार से ।

कौन केवल आत्मबल से जूझकर
जीत सकता देह का संग्राम है ?
पाशविकता खड्ग जब लेती उठा,
आत्मबल का एक वश चलता नहीं ।

जो निरामय शक्ति है तप, त्याग में,
व्यक्ति का ही मन उसे है मानता;
योगियों की शक्ति से संसार मे
हारता लेकिन, नहीं समुदाय है ।

कानन में देख अस्थि-पुंज मुनिपुंगवों का
दैत्य-वध का था किया प्रण जब राम ने;
"मतिभ्रष्ट मानवों के शोध का उपाय एक
शस्त्र ही है ?" पूछा था कोमलमना वाम ने ।

"नहीं प्रिये, सुवर मनुष्य सकता है तर,
त्याग से भी" उत्तर दिया था घनश्याम ने।
"तन का परन्तु, वश चलता नहीं सदैव
पतित समूह की कुवृत्तियों के सामने।"

रांगेय राघव

## मानव का इतिहास

( 'मेधावी' से )

युगों के अट्टहास के बीच
एक पल यह कैसा चीत्कार
नियम के आकर्षण में आज
जागता ऐ मानव का प्यार...
तभी तो ज्ञान बना निःशक्त
वासना के प्याले में आज
प्यार के फेन बना अभिराम
मानवों के अधरों का लास
स्पर्श करने की सुधि में भोर
काँप उठता है भरे मरोर!
अरे सागर के संमुख बूँद
वज्र के संमुख तिन्नी मात्र
और यह लघुता का उल्लास
बन गया मानव का यश दीप्त!
हंत! उन्माद!!
अरे यह क्या संज्ञान संपूर्ण
खोजती प्यार प्यार का गीत
किन्तु सब कुछ भी जान

मनुज का यह अज्ञान
भार-सा क्यों छा जाता स्फीत
अरे केवल विचार का रूप
अधूरा बिना क्रिया की शक्ति
व्यथित है यह सारा संसार।

निराशा की झंझा में भूल
बिखर जाती हैं कलियाँ हाय,
मदभरा अक्षय यौवन कोष
काल के बर्बर हाथों बीच
निचुड़ कर-कर उठता चीत्कार,
और यह मानव हो भयभीत
तिमिर में रो उठता नतशीश,
परिधि बन जाती कारा घोर,
छटपटा उठते व्याकुल प्राण
रुद्ध हो जाते मीठे गान,
नीड़ में भरते श्वास विहंग
डूब जाते जलचर निःशक्त—

दूर तक मानव का अवसाद
सुलगता बन पतझर की रात
अमरता के ये ज्योतिर्बिम्ब
अँधेरे में गिरते निष्प्राण
भटकते से अपना पथ भूल
नहीं मिलती जब कोई राह
ग्लानि से भर भर आती आँख
आपदायें वह दीर्घाकार
घटाओं-सी मँडरातीं घोर
आह प्राणों की भीति महान
क्रान्ति बन कर कर उठती रो
खींचता था जिससे वह वारि
टूटने लगती वह ही डोर…

अँधेरे में हलचल यह व्याप्त
जगाती मेरे स्वप्न महान...
सुन रहा हूँ पैरों की चाप
सुन रहा हूँ मैं अगनित बोल
सुन रहा हूँ नूपुर झंकार
सुन रहा शैलों का कल्लोल
एक दिन आर्य्य विजय का घोष
पहाड़ों में उठता था गूँज

वृषभ घंटा ध्वनि पर भर ताल
ऋचाओं का स्वर उठता झूम
सिंधु की लहरों में भर फेन
वाहिनी जाती थीं नदपार
द्रविण सभ्यों के आयुध घोर
पराजय की करते झंकार
सहस्रों वर्षों तक गम्भीर
गहन वन में जब फूटी रश्मि
कौन भर स्वर में चिर उल्लास
कह उठा है आनन्द विभोर
सत्य की ओर !
ज्योति की ओर !

आवरी का गंभीर विशून्य
नाद जिसमें है अमर सदीत
आज भी कहता है अनबूझ
मानवों की जीवन की जीत
अप्सराओं के कोमल स्वप्न
मनुज की मेधा का अवगाह
देवताओं की निर्मित खोज
काव्य में कल्पना का अवसाद
कर्मकांडों का उन्मद खेल,—
और फिर 'चारवाक' का घोष—

'नहीं है कुछ भी, सत्य विवेक,
मनुज का ध्येय स्वयं संतोष।'
'कपिल' 'जावालि' 'यास्क' 'मनु' आदि
सभी की अपनी अपनी बात
और गौतम का ऐसा गीत
गा उठा था पूरा संसार
खोजता है जीवन की थाह
याद है मेधावी 'शंकर'
उगलता ज्वाला प्रलयंकर
अरे माया का तांडव नृत्य
और फिर नारी से ही हार !

याद है ब्रह्मपुत्र से सिंधु
हिमालय से आसेतु पुकार
भक्ति की गूँज उठी थी एक
समर्पण ही प्राणों का सार !

और सूफी कवियों का प्यार
तड़पता खेल उठा सुकुमार
पूर्व पश्चिम के खोकर भेद
एक मानव पर था विश्वास
रहस्यों में गंभीर प्ररूढ़
अरे ज्ञानी थे जैसे मूढ़

आज तो दोनों केवल चि...
जहाँ परिचित भी हुए वि...
जहाँ है ज्ञान वहीं है दुःख
व्यथा में कितनी मीठी प्यास !

पूछ तो चट्टानों से पूछ
लिखा करते थे क्यों चुपचा...
सुदृढ़ आदिम मानव ले भाव
आज जो तू आँखें विस्फार

देखता विस्मय से भर मौन
पुरातन सरल पुरुष का मोह
पुरातन नारी का वह गीत !
और वह दिन मोहाकुल मत्त
कर उठा था पागल अभिसार
पुष्पधन्वा की कोमल मार
कर गई झंकृत उर के तार
आह रे संसृत के उल्लास
पुरातन भी तू सदा नवीन
जन्म में मृत्यु आज है लीन
खोल कर आँख तनिक तू दे
कौन-सा पथ चल आया अ
अरे पीछे का करता मोह
आज भी तो कल का सा प्य
आह गति के द्वन्द्वों में लीन
अरे विह्वल हो यों न पुकार
देख नर्त्तन, यह जीवन शा
अरे अपराजित युग युग मु
आह शाश्वत के भ्रम में मृ
सनातन छवि में खोये जाग
देख नर्त्तन का मिथुन विर

हहराते हैं व्याकुल वृन्त
तिमिर हिल-हिल उठता है
'निनेवे' के [illegible] के गीत
कौंधते हैं मरु पर अभिशाप
अरे शस्त्रों की सुन झंकार
याद आते हैं फिर साम्राज्य
'फ़राओं' की कठोर वह द
या कि फिर 'तैमूर' का वह
रक्त का वैभव...हाहाकार

हँसो मत मेरे मन के गीत
हँस मत वृक्षो, हँस मत वायु,
पूछ तो क्या कहती है आज
खण्डहरों से खण्डहर की लाज,
विजय की वह दुर्दम हुंकार
अभी 'पामीर' रहा है काँप
'दलाईलामा' के विश्वास
गुफाओं में छिपते बन मौन,
सोचता हूँ फिर सबका लक्ष्य
देखता हूँ—दुख होता हाय
अरे मेरी ममता का लास
स्वप्न सा उठता स्वयं कचोट
क्रिया सत्ता का हाथी एक
बुद्धि है चालक सी द्विगुणात्म
हृदय प्रतिध्वनि प्रतिबिंब अपार
अरे जीवन है सबका केन्द्र
विकल मानव की सुख की आस
तरंगों के सहती आघात
भीम लहरों की भीषण डाढ़
बीच भी करता है संग्राम
विजय है जीवन का उल्लास
पराजय मरण और अपमान
युगान्तर का यह व्याकुल मौन
कर उठा है सहसा विद्रोह
प्रगति के चरण अभय निःशं
निराशा बनी भूत का मोह !
करोड़ों चरण चल रहे राह।
न जाने कितने अरबों चिन्ह
मिट गये, केवल कुछ हैं शेष-
और चलते जायेंगे, किंतु

राह का मोह बना है जाल !
कहाँ जाते हैं यह तो बोल ?
अरे अज्ञान स्तरों को खोल !!
खोल कर नयनों को मैं मूक
पूछता हूँ तम से यह प्रश्न
दूर के नक्षत्रों तक बात
गूँजती कर उठती है लास
और लहरों का पागल वेग
बुद्धि से टकराता है हार,
फेन सा जग उठता है प्यार।
लौटती लहरों का वह नाद
पताका सा फहरा निःशंक
क्षितिज की सोती लहरें मौन
हिल गई हल्के से चुपचाप
और सागर के तट पर आज
अरे आकाशदीप निर्भीक
गुणों की खींच, ज्योति की :
नाविकों की आशा का केन्द्र·
स्नेह का यह वरदान
आह जग का कल्याण
प्रश्न का उत्तर सुख की खोज
और अपना ही सामंजस्य
'किसलिये' का घननाद
कर रहा घोर प्रहार—
और फिर कशाघात से दीन
चल रही मेरी बुद्धि अपार
एक छलनी, छन छन कर :
बिंदु का सिंधु बनाती आज
और फिर बना कर यह गर्व
दीन उठता [illegible] पुकार

अरे मैं हूँ 'चंगेज़' कठोर
अरे मैं हूँ 'तैमूर' प्रवीर
'सिकदर' 'नीरो' 'बाबर' आदि
आज मुझमें लय हैं उन्मुक्त
'अलइज़र' या 'नालंदा' भव्य
कि 'विक्रम,' 'तक्षशिला' का ज्ञान
लोटता है लहरों सा स्फीत
महामेधा चरणों पर गूँज.
आज मैं 'वाल्मीकि' का गीत
आज मैं 'ऊँ' नाद का प्राण

सहस्रों वर्षों का मधुमूल
आज मैं हूँ, मैं हूँ, मैं आज
बर्बरों का कोमल आनंद
तृषित सभ्यों की हूँ मैं खोज
क्या नहीं है मुझमें ओ बोल
आज मैं ! 'मैं' यह मेरा सत्य
आज 'तू' कह सापेक्ष पुकार
विश्वसत्ता में मेरी लीन
किंतु मैं क्या हूँ ?
केवल भूत !!!!

भूत के परिवर्त्तन का नृत्य
भूत के जीवन का आनन्द
समय की मंगलमय गुंजार
अरे अविनश्वर मेरा रूप
सदा अणु मेरे अमर महान

रूप का भेद, शक्ति का द्वंद्व
नहीं मैं माया और विकार
तिमिर भी मैं, मैं ही हूँ ज्योति
अरे मैं का निर्माता कौन ?

युगांतर की मानव की दौड़
शक्ति सामूहिक बनी समाज
कर चुकी करती रही विकास
उसी का अणु उसमें मैं लीन
आज मैं केवल अणु भर मुक्त
नाच लूँ गाऊँ मुग्ध विभोर !
बोल फिर अंधकार कुछ बोल
भूत है भूत
भूत है शक्ति
कि जो है उसमें क्या संदेह ?
स्वयं मैं छायाचित्र
सरलतम और विचित्र
पूछ उठ अंतराल कल देख
उठेगी मरघट से आवाज़—
कौन तू करता किसकी खोज ?
मुहम्मद लाखों ! लाखों राम !!
उठा कर बालू कर में पूछ
'पिरैमिड' 'ताज़' चीन की भीत !
और फिर अट्टहास गम्भीर !
थहर जायें जिससे वे सिंधु
काँप जायें वह दीन पहाड़ !

किंतु यह मरना, मरण भी अल्प
शुद्ध जीवन की निर्मल कांति
यह की मुक्ति, मुक्ति का नृत्य
और फिर से नूतन निर्माण
न कोई ईश्वर या छलछन्द
न कोई आत्मा या अमरत्व
[illegible] बना [illegible]
[illegible] की [illegible]
और यह गति के पल पल सत्य

राह के पंथी पग पग सत्य
राह है नृत्य
नृत्य है सत्य
न था कल मैं—था किंतु समाज
न था कल मैं, थी सृष्टि अबाध
और कल भी फिर यह ही बात,
व्यक्ति के अहंकार में बद्ध
झुंठाता किसको यह तो बोल !
पुजारी कैसी अंधी भक्ति
देख जीवन की प्रगति महान
झुँठा मत अपने को तू क्लीव
बना मत ध्येय आज अज्ञान
स्वर्ग की धूलि बनी यह भूमि
करेगी कब तक हाहाकार
बदलना होगा आज समाज
कलुष की नींव मिटानी आज !
प्रकृति से तू करता संघर्ष
किंतु आपस में शृंखलबद्ध
दुखों को कह न कल्पना मूर्ख
आह मत कर अपनी गति रुद्ध
एक जो राह—
सहस्रों वर्षों से तू सतत
चला है फिर भी परिचयहीन ?
अविश्वासों का ले पाथेय
दिशाभ्रम को वैभव मत मान
तुषारावृत्त कलिका सा मुरझ
नील पड़ता है तेरा गान
अमरता के दुःस्वप्न !
एक क्षण सो न सका उन्मुक्त
एक पल कर न सका सुख प्यार

अरे मृगतृष्णा में ही हार
ठोकता अपना कुटिल कपाल
आह धीवर कन्या के गीत
जाल में फाँस फाँस संसार
तड़पतों पर उठता है झूम
और आँसू की बन कर लीक
गाल पर बह जाता हतभाग्य !

कारवानों की झिलमिल टीस
विजन मरु में ज्यों होती लुप्त
और खानाबदोश की आह
गगन में भर उठती है दाह
व्यथित हूँ मैं, मेरा संसार,
निराशा दुर्दम बन कर अस्त्र
वार कर कर करती झंकार
काँप उठती करुणा की ज्योति
थहर उठता है जीवन आह
आह मैं तम में सूना मौन
देखता दूर दूर नक्षत्र
आज मेरी पृथ्वी का गीत
गूँजता सर्वोपरि उन्मुक्त
खोजता हूँ मैं सुख का केन्द्र
हृदय के भीतर है जो बंद
और जिस तक जाने की राह
मनुज का सामाजिक व्यवहार;
अरे कैसी होगी यह नींव
उठेगा कैसा ही घर देख;
गर्भ में जिसके शव का भार
यहाँ रोयेगा कौन अबूझ
मरण के बीहड़ पथ पर आज
[illegible] पड़ा मेरा हृदय अजान

नापता जो तारों के गीत
आज नापेगा जग का लास
अरे विस्मृति के पर्दे खोल
निकालूँगा वह भूले कोष
एक दिन जिन पर थी अभिलाष,
आज कैसे तम में लयमान
कहाँ तक यह गति का संभार
और मानव का यह अभिमान—
तड़कती दीवारों सा आज
थहरता है गिरने के पूर्व
नींव क्या थी इसकी अज्ञात...
आह मानव के ज्ञान...
प्यार की मृदु छाया में स्नात
साथ चल तू भी ज्योतित रूप !
महागति का उल्लास !
फट रहे मेघ निकलता प्रात
नयन में छाती जाती ज्योति...

सोहनलाल द्विवेदी

# क्षमा-दान

('कुणाल' से)

जब खुला सब भेद, उर में
बढ़ा अति अवसाद !
हुए क्रुद्ध अशोक इतने
हुआ एक प्रमाद,

अधर कंपित, नेत्र लोहित,
भृकुटि वंकिम रंग,
अट्टहास किया भयानक,
देख विधि का व्यंग !

'रे वही कुलघातिनी !
कुलनाशिनी यह पाप !
मौर्य के कीर्तिकेतन
की अमित अभिशाप !

दी और जीवंत दंपति
को अनन्त समाधि,
मेट दी कुल से युगों की
व्याधि की चिरव्याधि !'

स्वयं ही विधि की विधात्री
बनी विधि को मेट
राजकुल भिक्षाचरण से
लगा भरने पेट

आज होगी युगों की
ज्वालामुखी यह शान्त
है कहाँ यमदूतिनी ! वह
काल व्याल कृतान्त !

कहाँ लाक्षागृह सजाने
चली जो निर्धूम ?
क्षार करने मौन ही
जलती चिता में झूम,

कहाँ लाक्षागृह-विधात्री !
कुटिनी पैशाच ?
राक्षसी ! अप्सरि बनी
करती रही रसनाच !

धुमकेतु, अशनि, कहां
वह राहुकुल अंगार ?
लिये विष के अधर
मेरी पूतना अनजान !

अधर में मधु ले,
हृदय में कालकूट कठोर,
कुटिनी थी महारानी !
भाग्यहत हा घोर

त्रस्त जिसके भृकुटि से
हों अंग, बंग, कलिंग,
भस्म करने चली उसको
एक आज स्फुलिंग,

शांत हो तव हृदय का
यह रोष,—उल्कापिंड
सुखी ग्रहमंडल बने,
शीतल सकल ब्रह्मांड!

चल इधर पूर्णाहुती!
रणयज्ञ की बलिदान!
है किधर प्रच्छन्न तू
ओ गुप्तचर की तान!

करूँगा विच्छेद जर्जर
अंग औ' प्रत्यंग
तृप्त प्रतिहिंसा तभी
होगी प्रशांत सुढंग!

मूर्च्छिता, पतिता, च्युता,
हतचेतना मृतप्राण!
गिरी सम्राज्ञी धरा पर
'त्राण' हा हा! 'त्राण'

कांचना निस्तब्ध, क्षुब्ध
चली व्यथित उस ओर
वदन फेनिल, नेत्र धूमिल,
था न दुख का छोर!

सभासद, मन्त्री, सभी थे,
राजमन्दिर मौन
हिम गिरा इतना सभी जड़,
बोलता फिर कौन?

हो रहे थे रोषदीप्ति
कठोर क्रूर अशोक
इधर राजकुमार, अपने
सके भाव न रोक!

है यही इच्छा तुम्हारी
तो रहे न अपूर्ण,
हो तुम्हें संतोष
जिससे हो वही संपूर्ण

दुर्दिनों के मेघ से
था घिरा मौर्याकाश,
एक कुल-नक्षत्र से
छाया अनंत प्रकाश !

हो गई अगणित आँख वन्द,
सह न वे सकीं अतुल आनंद।
'जयति युवराज कुणाल महान् !'
गुंजते थे अंबर में छन्द !

दिखाई पड़ा अलौकिक दृश्य,
वहीं लख सब हो गये विमुग्ध,
लौट आई आँखों में ज्योति,
देखते थे कुणाल अब मुग्ध !

हर्ष की उमड़ी और हिलौर,
हुई जनता सुख में तल्लीन,
कांचना पुलकित चकित असीम,
आज सब विधि वह बनी अदीन !

हुआ वितरित मणियों का दान,
आज था हुआ लोक-कल्याण,
देख तपसी के तप को पूर्ण,
हुए जैसे प्रसन्न भगवान !